इसी कारण उनके सभी राजपरिषदों में हमारे प्रभाव की बुनियाद पक्की हो गई है और हमारे उद्‌भव का सितारा बुलंद है।[14] यदि कंपनी के विरोधी राज्य समाप्त हो गए थे और जनता के मन पर उनकी न्यायप्रियता एवं विचार-संतुलन का सिक्का जम गया था तो पहले वाला संशयवाद भी समाप्त हो गया। अब तो राज्य को आगे बढ़ाने और उसकी जड़ों को और गहरा करने के लिए शिक्षा और और धर्म-प्रचार संबंधी सभी उपायों पर पुनर्विचार किया जा सकता था। ऐसा ही किया भी गया।

जब लार्ड मिंटो गवर्नर-जनरल बने तो सैरमपुर में स्थित मिशन-सेवियों की गतिविधियों के कारण कुछ गड़बड़ हो गई। परिणामस्वरूप लार्ड मिंटो ने उन पर कुछ पाबंदियां लगा दीं और चार्ल्स ग्रांट को लिखा कि इस संबंध में कोई उचित सुझाव दें। ग्रांट ने यह पत्र बोर्ड आफ कंट्रोल के अध्यक्ष को दे दिया कि वे इसे अंतरंग (सीक्रेट) समिति के सामने रखकर गवर्नर-जनरल को उत्तर दे दें। अध्यक्ष ने उत्तर दिया कि हम किसी तरह भी भारत में ईसाइयत के प्रचार-प्रसार के विरुद्ध नहीं हैं। किंतु यह कार्य यदि ऐसे तरीके से किया गया कि उससे भारत की जनता की धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुंचे या वे हमारे विरुद्ध भड़क उठें, तो यह गलत हो जाएगा। हम यह नहीं चाहते कि मिशनरी लोग हमारे कंधे पर रखकर अपने निशाने साधें। हां, यदि ऐसे तरीकों से जनता में ईसाइयत का प्रचार हो सकता है जिन से हमारी राजनीति और शासन सत्ता को कोई खतरा न हो तो हम अवश्य प्रचार के पक्ष में हैं। यह वांछनीय भी है।[15]

इस पुनर्विश्वास के वातावरण में स्वयं लार्ड मिंटो ने 1811 में यह लिखा कि भारत में विज्ञान और साहित्य का ह्रास होता जा रहा है। न केवल विद्वानों की संख्या कम हो रही है अपितु जो बचे भी हैं उनके ज्ञान की सीमाएं भी संकुचित होती जा रही हैं। वे साइंस को छोड़ रहे हैं और ललित कला से विमुख होते जा रहे हैं। सिवाय धार्मिक विश्वास और कर्मकांड के और कुछ नहीं बचा है। फलस्वरूप बहुमूल्य पुस्तकें एवं हस्तलिपियां नष्ट हो रही हैं या हो चुकी हैं। यदि इस दिशा में सरकार ने अपना वरद-हस्त नहीं बढ़ाया और उनकी रक्षा नहीं की तो इस ज्ञान का पुनरुद्धार असंभव हो जाएगा क्योंकि न पुस्तकें बचेंगी, न उनके ज्ञाता विद्वान रहेंगे। लार्ड मिंटो ने आगे लिखा कि विज्ञान और कला एवं विद्वानों के ह्रास का मुख्य कारण यह है कि स्थानीय राज्यों के अंतर्गत रजवाड़ों, सरदारों या सेठ लोगों से जो प्रोत्साहन उन्हें मिला करता था वह अब नहीं मिल रहा। ऐसा प्रोत्साहन यूं तो सभी जगह जिज्ञासुओं के लिए प्रेरणा बना करता है किंतु भारत में तो यह विशेषतः सत्य है क्योंकि यहां के पंडितों या विद्वानों को और कोई सहारा मिलता ही नहीं है। लार्ड मिंटो ने खेद व्यक्त किया कि एक तरफ ब्रिटिश साम्राज्य के दूसरे भागों में अंग्रेज कौम साइंस और कला-कौशल की उन्नति में सहायता करने के लिए विख्यात है और दूसरी ओर हम हिंदू साहित्य की रक्षा करने में असमर्थ रहे हैं और साहित्य के

14. एस०जे० उम्मन, 'सलेक्शंज फ्रॉम वेल्ज्लीज डिस्पैचिज़', पृ० 439; दे० वही पृ० 260
15. फिलिप्स, 'ईस्ट इंडिया कंपनी', पृ० 164

इस भंडार के ताले यूरोप के विद्वानों के लिए खोलने में असफल हो रहे हैं।[16] लार्ड मिंटो के ये शब्द कंपनी सरकार के प्रति जनविश्वास का मानक समझे जा सकते हैं। 1793 में जो कदम उठाकर रोक लिया गया था वह नीचे की ओर आने लगा था।

कंपनी को यह विश्वास हो गया कि राज की जड़ें मजबूत हो चुकी हैं और सरकार ने अपनी नीति से जनता का विश्वास प्राप्त कर लिया है। अब तो वे शिक्षा और मिशन दोनों कामों के लिए तैयार हो गए। 1813 में शिक्षा संबंधी प्रस्ताव पास करके संसद ने एक लाख रुपया वार्षिक व्यय की स्वीकृति एवं आदेश दे दिया। शिक्षा प्रस्ताव के साथ-साथ एक मिशन-कार्य संबंधी प्रस्ताव भी पास किया गया जो इस प्रकार था :

इस देश का कर्तव्य है कि भारत में ब्रिटिश राज के निवासियों के हितों और सुख-शांति की वृद्धि की जाए और ऐसे कदम उठाए जाएं जो उनमें उपयोगी ज्ञान एवं नैतिकता के प्रसार और उन्नति में सहायक हों। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए विधान के अंतर्गत उन लोगों को पर्याप्त सुविधाएं उपलब्ध कराई जाएं जो जनहिताय इन उद्देश्यों के लिए भारत जाना चाहें या वहां रहना चाहें।[17] चार्ल्स ग्रांट की सफलता का यह दूसरा चरण था !

इस प्रकार 1793 से बीस साल बाद दूसरा कदम उठाया गया, या यूं कहिए कि चार्ल्स ग्रांट के 1793 के प्रस्ताव की दूसरी धारा को पास किया गया। चार्टर एक्ट की धारा 43 के अंतर्गत गवर्नर-जनरल को यह अधिकार एवं दायित्व दिया गया कि वे भारत में उपयोगी साहित्य, साइंस और कला-कौशल के प्रचार-प्रसार के लिए एवं विद्वानों के प्रोत्साहन के लिए एक लाख रुपये के व्यय की स्वीकृति दें। धारा 13 के अनुसार भारत के दरवाजे मिशनरी संस्थाओं के लिए खोल दिए गए ताकि वे अंग्रेजी भाषा, अंग्रेजी शिक्षा और ईसाइयत का प्रचार-प्रसार करें।

तीसरा कदम इसके बाईस वर्ष बाद 1835 में उठाया गया। उसका श्रेय लार्ड मकाले को मिला। विलियम बैंटिंक, जो उस समय गवर्नर-जनरल थे, ने मकाले के प्रस्ताव को स्वीकृति दी और उस श्रेय में भागीदार बने। चार्ल्स ग्रांट को वह श्रेय अपने जीवन में नहीं मिला था, किंतु वे उसकी तैयारी अवश्य कर गए थे। मकाले उनके मानस-पुत्र थे, क्योंकि उनके पिता के मित्र होने के कारण वे युवक टौमस मकाले के गाडफादर यानी धर्मगुरु थे। विलियम बैंटिंक पर जो धब्बा लगा था ग्रांट उसको धुलवा चुके थे। 1835 में कंपनी के चेयरमैन चार्ल्स ग्रांट के बड़े पुत्र चार्ल्स ग्रांट जूनियर थे। ग्रांट इन तीनों योद्धाओं को भारत भाषा, शिक्षा और सभ्यता की लड़ाई लड़ने के लिए तैयार करके सुख-शांति से आशापूर्ति की नींद सो गए थे।

तीसरे कदम की ओर चलने से पहले हमें 1813 के चार्टर ऐक्ट की धारा 13 और 43 पर विचार करना चाहिए ताकि हम यह देख लें कि उनमें क्या कह दिया गया था, क्या नहीं कहा गया था और कितनी गुंजाइश तोड़-मरोड़ के लिए छोड़ दी गई थी।

1793 के प्रस्ताव एवं 1813 के प्रस्ताव की 13वीं धारा को पढ़ने से यह पता लगता

16. नूरुल्ला और नायक, 'ए हिस्ट्री आफ एज्यूकेशन इन इंडिया', पृ० 79-80
17. देखिए : रिक्टर, 'ए हिस्ट्री आफ मिशंज इन इंडिया', पृ० 150-51

है कि ब्रिटिश शासन और अंग्रेजी शिक्षा तथा मिशनरी-कार्य का लक्ष्य यही माना गया था कि भारतीयों के हितों की रक्षा और उनके सुख-शांति की वृद्धि की जाए। शिक्षा संबंधी 43वीं धारा में यह बात स्पष्ट रूप से उभर कर सामने नहीं आती, केवल गौण या निहित समझी जा सकती है। सो भी आवश्यक नहीं। किंतु ये बातें अवश्य स्पष्ट हैं :

1. भारतीयों में उपयोगी ज्ञान का प्रचार और नैतिक उन्नति। तदर्थ मिशन-सेवियों को वहां जने और ठहरने और काम करने की इजाजत देना। यह स्पष्ट नहीं है कि उपयोगी ज्ञान कौन सा है ? विज्ञान का, अंग्रेजी साहित्य का, या ईसाई मत का। अंग्रेजी भाषा का या भारतीय भाषा एवं साहित्य का ? स्पष्ट न होने के कारण इस बात का निर्णय स्वयं मिशन-सेवी ही कर सकते थे। स्पष्ट यही होगा कि उपयोगी ज्ञान अंग्रेजी भाषा, साहित्य, ईसाइयत और साइंस संबंधी होगा। नैतिक उन्नति ईसाइयत से ही होगी। समय के अनुसार 1793 में धर्म-संबंधी कार्यक्रम को प्रस्ताव से निकाल दिया गया था। किंतु यह समझने की बात है कि ईसाई मिशनरी यदि भारतीयों की नैतिक उन्नति के लिए कार्य करेगा तो हिंदू धर्म के प्रचार से थोड़े ही करेगा ?
2. शिक्षा संबंधी प्रस्ताव में लक्ष्य का निर्देश तो नहीं है किंतु फिर भी इन उद्देश्यों पर ध्यान देना आवश्यक है :
   (क) साहित्य का उद्धार और उन्नति : प्रश्न है कौन-सा साहित्य ?
   'रिवाइवल' शब्द का संकेत तो भारतीय प्राचीन साहित्य की ओर दिखता है किंतु 'इम्प्रूवमेंट' शब्द का इशारा उधर हो यह आवश्यक नहीं, संदिग्ध है।
   (ख) भारतीय विद्वानों को प्रोत्साहन देना : प्रश्न है, कौन से विद्वान ?
   संस्कृत, फारसी, अरबी के विद्वान अथवा अंग्रेजी भाषा, साहित्य साइंस के विद्वान : यह बात स्पष्ट नहीं है।
   (ग) उपयोगी विज्ञान का प्रचार तथा प्रसार : यह बात स्पष्ट है और साइंस तो पाश्चात्य विज्ञान ही होगी।
   (घ) विज्ञान के अतिरिक्त किसी विषय-विशेष अथवा भाषा-माध्यम की कोई चर्चा नहीं है।

अंग्रेजी भाषा वक्रोक्ति, न्यूनोक्ति और अनुक्ति सब के लिए प्रसिद्ध है। इन प्रस्तावों में जैसी भाषा का प्रयोग किया गया है उस से एक बात स्पष्ट है जो प्रस्तावों में कही नहीं गई है, वह बात है : तीर हमारा, लक्ष्य हमारा।

इन सब बातों को लेकर 22 वर्ष तक वाद-विवाद चलता रहा। इस विवाद का अध्ययन हम अगले अध्याय में करेंगे।

4
लक्ष्य की ओर

1789 के भारत की अपेक्षा 1813 का भारत कंपनी सरकार के दृष्टिकोण से सुव्यवस्थित था। सरकार का भय, संदेह और आशंकाएं सब समाप्त होने के पश्चात् राज एक सुनिश्चित दिशा में मोड़ ले रहा था। स्थानीय शासन के तथाकथित अन्याय, अत्याचार, अराजकता और आतंकवाद के समाप्त हो जने पर अंग्रेजी राज में जनता सुख की सांस ले रही थी, ऐसा कहा जाता था। लार्ड मोयरा, मार्क्विस आफ हेस्टिंग्ज़, के कथनानुसार एक नई सामाजिक व्यवस्था जन्म ले चुकी थी। ऐसे सामाजिक वातावरण में कला-कौशल के प्रचार-प्रसार की आवश्यकता है।[1] यह 2 अक्तूबर, 1815 को लिखा गया।

उस समय के दो दृष्टिकोण हमारे सामने आते हैं : एक नरम, दूसरा गरम। नरम नीति के प्रवर्तक थे मनरो, जान मैल्कम, एल्फिस्टन और मेटकाफ। दूसरे दल के समर्थक थे चार्ल्स ग्रांट, विल्बरफोर्स, लार्ड कार्नवालिस और लार्ड वेल्जली सरीखे लड़ाके।

नरम दल के लोग चाहते थे कि कोई भी शिक्षा, भाषा या सभ्यता संबंधी परिवर्तन तूफान की तरह न लाया जाए बल्कि इस क्षेत्र में पूरी सावधानी बर्ती जाए। लार्ड मनरो ने 1824 में लिखा था कि इस देश का रूप, यहां की जमीन-जायदाद अथवा समाज और व्यवस्था कभी भी चुटकी बजाकर नहीं बदले जा सकते, चाहे हम किसी भी पद्धति या शैली का प्रयोग क्यों न करके देख लें। हां, हमारी जल्दबाजी से इन को चोट अवश्य पहुंच सकती है। लार्ड मनरो का आशय यह था कि जल्दी मत करो।

भारतीय जनता के हितों की रक्षा और सुख-शांति की उन्नति की बात तो पहले से ही चलती आ रही थी। बेलूर की बगावत के थोड़े ही दिन बाद बोर्ड आफ कंट्रोल के अध्यक्ष ने कहा था : किसी को भी यह अधिकार नहीं है कि दूसरे को उसकी इच्छा के विरुद्ध प्रसन्न करने या सुखी रखने का प्रयास करे।[2] जान मैल्कम ने इसी भावना से प्रेरित होकर यह लिखा था कि हमें अपने पुराने अनुभव से एक सबक सीखना चाहिए और वह यह कि आहिस्ता चलो, सावधानी बरतो। कोई काम ऐसा न करो जो भारतीय लोगों की परंपरा और उनकी मान्यताओं से टकरा जाए। हम अपने पाश्चात्य ज्ञान की वरिष्ठता के नशे में आकर मानसिक रूप से अपने को ऊंचा मानने की धृष्टता कर रहे हैं। हमें अपने मन से यह अहंकार निकाल देना होगा और

1. शार्प, 'सलेक्शंज फ्रॉम एज्यूकेशनल रिकार्ड्स', पार्ट 1, पृ० 28-29
2. फिलिप्स, 'ईस्ट इंडिया कंपनी', पृ० 160-61

अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वे तरीके अपनाने होंगे जो भारतीय लोगों के स्वभाव से मेल खाते हों।[3] लक्ष्य तो निर्धारित ही था : राज की बुनियाद पक्की करके साम्राज्य के भवन का निर्माण और तदर्थ भारत की मानसिक एवं सांस्कृतिक विजय।

ये नरम-गरम विचारधाराएं नए-पुराने के हेर-फेर में चल रही थीं। यदि हेस्टिंग्ज़ के समय को याद करें तो कलकत्ता मदरसा और बनारस संस्कृत कालेज दोनों ही प्राचीन परंपरावाद के प्रतीक थे। 1813 के प्रस्ताव में भी भारतीय विद्वानों का प्रोत्साहन और साहित्य-सेवा अर्थात् पुनरुद्धार और उन्नति इसी परंपरावाद के समर्थन के द्योतक थे। ऐसा लग रहा था कि भारत के पुराने साहित्य और परंपरा के अंदर एक नई जान डाल दी जाएगी और सभ्यता एवं संस्कृति की एक नई लहर प्राचीन स्रोत से चलती-चलती नई हवा में सांस लेती हुई नए रूप में फूले-फलेगी।

संभवतः इसी परंपरा संबंधी विचारधारा को लेकर 3 जून, 1814 को कोर्ट आव् डायरेक्टर्ज़ ने एक पत्र गवर्नर-जनरल को लिखा। प्राचीन भारत में विविध क्षेत्रों में ज्ञान-विज्ञान और नीति-प्रगति की चर्चा करते हुए उन्होंने इस बात पर बल दिया कि भारतीय पंडितों से संपर्क किया जाए और उनकी सहायता से इन सभी क्षेत्रों में नया काम किया जाए। उन्होंने लिखा कि अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए हमारे विचार में यही उचित रहेगा कि भारतीय पंडितों को अपनी ही परंपरा के अनुसार चलने दिया जाए अर्थात् वे अपने घर पर ही विद्यार्थियों को शिक्षा देते रहें। उनको ज्ञानार्जन और शिक्षा के प्रचार में प्रोत्साहन दिया जाए और इसके लिए उनको योग्यता विशेष की उपाधियां दी जाएं और कभी-कभी आर्थिक अनुदान भी दिया जाए।

उन्होंने पत्र में यह भी लिखा कि संस्कृत भाषा में अनेक बहुमूल्य शास्त्र विद्यमान हैं जैसे आचार संहिता, विधिशास्त्र, वर्ण-धर्म संबंधी व्यवहार विज्ञान इत्यादि जो सबके सब उन भारतीयों के लिए अत्यंत लाभकारी होंगे जो सरकारी न्याय-विभाग में काम करने के अधिकारी बनाए जाएंगे। वनस्पति विज्ञान, ओषधि विज्ञान एवं उनके चिकित्सा क्षेत्रीय प्रयोगों पर भी बहुत सारी काम की पुस्तकें हैं जिनका ज्ञान यूरोपियन चिकित्सकों के लिए लाभप्रद होगा। ज्योतिष, गणित, ज्यामिति और बीजगणित के भी ग्रंथ हैं जिनसे संभवतः यूरोपियन विज्ञान में तो कोई वृद्धि नहीं हो सकेगी किंतु फिर भी वे हमारे इंजीनियरिंग विभाग में और पर्यवेक्षणशाला में काम करने वाले अंग्रेजी अफसरों और भारतीयों के बीच संपर्क का माध्यम बन सकेंगे। इसी संपर्क के फलस्वरूप भारतीय विद्वान इन सभी क्षेत्रों में आधुनिक वैज्ञानिक उपलब्धियों को यथासमय अपना लेंगे।

इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए हमने निर्णय लिया है कि हमारे इन विभागों में काम करने वाले उन सभी अफसरों को प्रोत्साहन दिया जाए जो संस्कृत पढ़ने के इच्छुक हों। इस काम के लिए जो अध्यापक लगाए जाएं वे उन भारतीयों में से चुने जाएं जो संबद्ध विज्ञान में उचित योग्यता प्राप्त कर चुके हों। उन विद्वानों को उदारतापूर्वक पारिश्रमिक दिया जाए।

डायरेक्टर्ज़ ने गवर्नर-जनरल को यह परामर्श भी दिया कि विविध विषयों के विद्वानों की

3. माइकल एडवर्ड्ज, 'ब्रिटिश इंडिया', पृ० 52

खोज में बनारस की ओर ध्यान दिया जाए।[4]

इस पत्र में कोई बात नहीं सुझाई गई है, न कोई नई पद्धति, न माध्यम। केवल परंपरागत पद्धति के साथ संपर्क जोड़ने का सुझाव है और यह आशा व्यक्त की गई है कि इसी संपर्क के द्वारा भारतीय विद्वान और सरकारी अफसर एक दूसरे के निकट आकर उसी प्राचीन परंपरा और यूरोपियन विज्ञान के बीच पारस्परिक संबंध जोड़कर एक नए विकास की ओर अग्रसर होंगे। भारतीय विद्वानों के प्रति जो सम्मान और सेवा-भाव व्यक्त किया गया है वह उसी समय के अनुरूप है जब लार्ड हेस्टिंग्ज़ कंपनी सेवार्थ उनके तुष्टीकरण में लगे हुए थे।

कंपनी सरकार ने अगले दस वर्ष तक कोई नया कदम नहीं उठाया। 1813 के प्रस्ताव में गवर्नर-जनरल को केवल यह अधिकार दिया गया था कि वे सरकार के बजट शेष में से एक लाख रुपया शिक्षार्थ अलग रख सकेंगे और वह रुपया साहित्य और साहित्य-सेवियों के प्रोत्साहन के लिए खर्च किया जा सकेगा। इस रुपए का व्यय अनिवार्य नहीं था। यह भी आवश्यक नहीं था कि रुपया अलग रखा ही जाए, सरकार का सारा खर्च निकाल कर बचे तो रखा जाए अन्यथा नहीं। इन्हीं दस वर्षों में नेपाली, पिंडारी और मराठा युद्धों के कारण खर्चा बढ़ गया और किसी शेष की प्राप्ति नहीं हो पाई।

केवल 1823 में सामान्य लोकशिक्षा समिति (ए जनरल कमिटी आव पब्लिक इंस्ट्रक्शन) की स्थापना की गई और उसका गठन भी कर दिया गया। कमिटी के दस सदस्य थे। उनमें से एक थे एच०टी० प्रिंसेप जो भारतीय साहित्य और शिक्षा पद्धति के समर्थक थे। एक और थे—एच०एच० विल्सन जो संस्कृत के विद्वान थे। ये लोग विलियम जोंस और कोलब्रुक की तरह शिक्षा-क्षेत्र में भारतीय परंपरा अर्थात् ओरियंटल स्कूल के पक्ष में थे। वह चाहते थे कि भारत की परंपरा, रीति-रिवाज, धर्म और साहित्य का अध्ययन करके संस्कृत भाषा और संस्कृति के प्रवाह में यूरोपियन और ब्रिटिश परंपरा से समुचित विचार लेकर एक नई जान डाली जाए और इस प्रकार नए-पुराने के समसामयिक समन्वय के आधार पर एक नए युग का निर्माण किया जाए। वे भारतीय परंपरा की सेवा और सफाई करके मानो उसी बूटे के ऊपर यूरोपियन विज्ञान, साहित्य एवं संस्कृति का पैवंद चढ़ाना चाहते थे और एक नए फल की प्राप्ति करना चाहते थे।[5]

सामान्य लोकशिक्षा समिति ने पहले से चले आ रहे काम को ही आगे बढ़ाया। उन्होंने कलकत्ता मदरसा और बनारस संस्कृत कालेज को पुनः सुव्यवस्थित किया। कलकत्ता संस्कृत कालेज की स्थापना की। दिल्ली और आगरा में ओरियंटल कालेज खोले। संस्कृत और अरबी की पुस्तकों का प्रकाशन आरंभ किया और विज्ञान इत्यादि उपयोगी विषयों पर अंग्रेजी पुस्तकों का संस्कृत और अरबी में अनुवाद करवाया। इस प्रकार समिति कंपनी के काम को आगे चलाती रही ताकि भारतीय विद्वानों के ऊपर उनकी नीति का अच्छा प्रभाव पड़े और वे भावना के स्तर पर उनकी आस्था में विश्वास करके अंग्रेजी सरकार के निकट आ जाएं। किसी नई भाषा और

4. शार्प, 'सलेक्शंज फ्रॉम एज्यूकेशनल रिकार्ड्स', पार्ट I, पृ० 23-24
5. आर्थर मेह्यू, 'द एज्यूकेशन आफ इंडिया' (लंदन, 1926), पृ० 10-11

नई पद्धति का प्रश्न उन्होंने क्रियात्मक स्तर पर नहीं उठाया। समिति के सदस्यों में अंग्रेजी भाषा और पाश्चात्य पद्धति के समर्थक तो थे परंतु वे अभी जोर नहीं पकड़ पा रहे थे। नौजवान लोग नए के पक्ष में थे। जो विषय या भाषा इन ओरियंटल कालेजों में पढ़ाए जाते थे उन्हें नेशनल भाषा और नेशनल साहित्य के नाम से पुकारा जाता था। वास्तव में यदि भारत के तत्कालीन इतिहास के संदर्भ में देखा जाए तो नेशनल भाषा या नेशनल साहित्य तो प्रारंभ हो ही नहीं रहा था। यह तो हिंदू और मुसलमानों की अलग-अलग परंपरा की सेवा की जा रही थी। हिंदू और मुसलमान रजवाड़े, नवाब और सेठ-साहूकार भी तो दान रूप में यही कुछ किया करते थे। कंपनी के अफसर और शिक्षा समिति भी उसी रास्ते पर चलने लगे। नेशनल भाषा-साहित्य-संस्कृति का सर्जन तो तब होता जब कंपनी-सरकार के तत्त्वावधान में हिंदू-मुस्लिम-ईसाई एवं संस्कृत-अरबी-अंग्रेजी धाराएं त्रिवेणी रूप में नए संगम पर पहुंचकर नई गंगा के रूप में बहतीं।

कंपनी को भारत-सेवा की प्राचीन पद्धति रास नहीं आई। वे एकाएक चेते और 1824 में गवर्नर-जनरल को एक कड़ा-सा पत्र लिख मारा। उसकी भाषा से ही अहंकार और साम्राज्यवाद की बू आती है। 1814 की भाषा, शिष्टाचार और नीति सभी को पीछे छोड़ दिया गया।

कोर्ट आव् डायरेक्टर्ज़ ने लिखा : भारत में शिक्षा प्रसार और समुन्नति के लिए हमारे मन में जो उत्कट इच्छा है आप उसे भली भांति समझ लीजिए। यह भी समझ लीजिए कि हम इस काम के लिए पर्याप्त बलिदान देने को भी तैयार हैं। कलकत्ता मदरसा और बनारस संस्कृत कालेज खोलने के दो उद्देश्य थे : एक, भारतीयों के साहित्य के अध्ययन और प्रगति के माध्यम से उनके मन पर अपना अच्छा प्रभाव डालना और दूसरा, उपयोगी विषयों के ज्ञान का प्रसार। 1813 के चार्टर ऐक्ट के अनुसार भी शिक्षा का उद्देश्य था साहित्य का पुनर्नवीकरण और भारतीय विद्वानों को प्रोत्साहन। आपने जो काम किया है उसका उद्देश्य यह प्रतीत नहीं होता। आपके शिक्षा प्रोग्राम का उद्देश्य हिंदू या मुस्लिम साहित्य का अध्ययन-अध्यापन नहीं होना चाहिए था। आपका उद्देश्य होना चाहिए था उपयोगी साहित्य का अध्यापन।[6]

इस पत्र से साफ पता चलता है कि कंपनी के सामने साधन और साध्य दो बातें स्पष्ट थीं। साध्य तो था भारत में राज की जड़ें मजबूत करना और साधन था भारत के लोगों के मन पर उनके साहित्य के अध्ययन-अध्यापन के द्वारा अच्छा प्रभाव डालकर उनको अपनी ओर खींचना। शिक्षा का विषय जो प्रारंभ से ही सुझाया गया था वह था उपयोगी साहित्य। प्रश्न उठता है किसके लिए उपयोगी ? शासन के लिए अथवा शासित के लिए ? इतिहास गवाह है कि दूसरे का लाभ सामने रख कर कोई अंग्रेज अपने देश को छोड़कर बाहर नहीं गया। विश्वास न हो तो डॉ० जानसन साक्षी हैं। वे 1759 में लिखते हैं कि यूरोपियन जिस देश में भी गए—केवल अपने लोभ की पूर्ति के लिए, भ्रष्टाचार फैलाने के लिए, अनधिकार राज्य हड़पने के लिए, और क्रूरता के काम करने के लिए गए। वे शायद ही किसी और उद्देश्य को लेकर बाहर

6. देखिए : शार्प, 'सलेक्शंज फ्रॉम एज्युकेशनल रिकार्ड्स', पार्ट I, पृ० 91-92

गए हों।[7]

1824 के उसी पत्र में आगे चलकर डायरेक्टर्ज़ ने लिखा : इसमें कोई संदेह नहीं कि हिंदुओं और मुसलमानों को उपयोगी साहित्य पढ़ाने के लिए हिंदू और मुसलमानों की भाषाओं का ही यथायोग्य प्रयोग किया जाना उचित था। साथ ही हिंदू और मुसलमानों के पूर्वाग्रहों को सामने रखते हुए उनके साहित्य में जो भी काम की बातें हैं उन्हें भी रख लेना उचित था। भाषा और विषय संबंधी इन बातों को सामने रखते हुए भी एक ऐसी शिक्षा-पद्धति का निर्माण किया जा सकता था जिससे बहुत लाभ उठाया जा सकता था। उसमें किसी बड़ी कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता। इसके विरुद्ध आपने तो ऐसी संस्थाएं बना दीं जिनमें केवल हिंदू साहित्य या मुस्लिम साहित्य पढ़ाया जा रहा है। इस प्रकार आपने स्वयं को बांध लिया कि आप अधिकतर वही विषय पढ़ाएं जो वाहियात (क्रिवलस) है। उसका अधिकतर भाग खुराफात (मिसचिवस) है। बहुत ही थोड़ा भाग उसका ऐसा है जो किसी काम का हो।

उपयोगी क्या है ? इसका निर्णय तो सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक अवस्था को ध्यान में रखकर किया जा सकता है, ऐसा ही किया भी जा रहा था। इसके अतिरिक्त एक रोचक बात और भी कही गई, उपयोगिता का निर्णय किसी वैज्ञानिक आधार पर नहीं अपितु अंतर्वर्ती सांस्कृतिक आधार पर किया गया : डायरेक्टर्ज ने यह भी लिखा कि संस्कृत साहित्य में जो कुछ भी थोड़ा बहुत उपयोगी है, उसको छोड़कर बाकी सब तो कविता मात्र है और केवल कविता पढ़ाने के लिए कालेज खोलना बेकार है। शिक्षा-समिति को इस बात पर जोश आ गया। उन्होंने उत्तर दिया कि विज्ञान के अतिरिक्त काव्य-भाषा या विधिशास्त्र पढ़ाना कोई समय का दुरुपयोग थोड़ा ही है ! यह तो सदुपयोग है। डायरेक्टर्ज़ ने इस दलील को रद्दी की टोकरी में डाल दिया और एक ही बात पर बल देते रहे : केवल उपयोगी साहित्य पढ़ाना है, अर्थात् विज्ञान।

इस सारे पत्रव्यवहार में एक ही बात उभरकर सामने आती है : शिक्षा के विषय वे होंगे जो उपयोगी समझे जाएंगे। उपयोगी का निर्णय कंपनी करेगी। आवश्यक नहीं कि संस्कृत या अरबी-फारसी साहित्य पढ़ाया जाए। माध्यम क्या हो ? हिंदू-मुसलमान दोनों से पूछा जा सकता है। उनकी बात मानी जाए या नहीं इसका निर्णय भी सरकार करेगी। मोटी बात यह थी कि पुराने को छोड़ना पड़ेगा, नए को अपनाना होगा, जो हम कहेंगे सो।

इस नई दिशा का निर्धारण भी अब होने लगा था। चार्ल्स ग्रांट का देहांत हो चुका था। उनके सुपुत्र छोटे ग्रांट कंपनी के प्रशासन में अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान रखते थे। यह बात भी कि यदि वे उपयोगी हों तो भारतीय भाषाओं को ही शिक्षा का माध्यम बना लिया जाए, चलने वाली नहीं थी। कंपनी राज में यह स्वाभाविक था। भाषा प्रयोग में आने से समृद्ध बनती है, प्रयोग में आने से पहले नहीं। भाषा की समृद्धि और प्रयोग की यह समस्या तो 200 वर्ष से लेकर अभी तक चली आ रही है। जब स्वतंत्रता के पचास वर्ष पश्चात् भी कोई भारतीय भाषा पूर्ण रूप से शिक्षा और प्रशासन का माध्यम नहीं बन पाई तो उस समय कैसे बन सकती थी ?

7. 'द वर्ल्ड वेल डिसप्लेड' (लंदन, 1759)

5

सस्ते नौकर

कंपनी द्वारा लिखे 1814 और 1824 के दोनों पत्रों से एक बात साफ समझ में आती है : शिक्षा पद्धति एवं शिक्षा का माध्यम दोनों उपयोगी होने चाहिए । सवाल उठता है—उपयोगी किसके लिए ? हम पीछे कह चुके हैं कि उपयोग का पात्र पहले तो सरकार ही होगी । किंतु शासित वर्ग को लाभ नहीं होगा क्या ? चार्ल्स ग्रांट ने 1793 में जब यह प्रस्ताव रखा था कि अंग्रेजी भाषा को शिक्षा और शासन दोनों का माध्यम बना दिया जाए तो क्या उनका मत यह था कि केवल अंग्रेज लोग ही अफसर और कर्मचारी बनकर भारत जाएंगे ? उन्होंने अंग्रेजी को संपर्क-भाषा बनाने की बात की थी, पर ऐसा कह कर भी वे अपनी भाषा का ही पक्ष ले रहे थे । यह संपर्क था शासक और शासितों के बीच, और यदि इन दोनों में संपर्क होता है तो शासितों को लाभ नहीं होगा ? अवश्य होगा । किंतु वास्तविक प्रश्न यह है कि दोनों में से किस का लाभ मुख्य है और किस का गौण ? ग्रांट के शब्दों को याद करें तो मानना पड़ेगा कि मुख्य पार्टी तो शासक ही थे । वे शिक्षा पद्धति से क्या उपयोग चाहते थे ? स्वयं शिक्षा पद्धति का संबंध किसी लाभ, हानि, उपयोग, अनुपयोग या दुरुपयोग के प्रश्न से था या नहीं ?

1813 के चार्टर ऐक्ट की धारा 43 के अनुसार प्रतिवर्ष एक लाख रुपया शिक्षार्थ रखा जा सकता था, किंतु सारा सरकारी खर्च निकालने के पश्चात् शेष में से । अर्थात् कंपनी सरकार का पहला ध्येय था कि भारत के प्रशासन से लाभ कमाया जाए । लाभ कमाने के लिए भारतीय प्रशासन पर व्यय कम किया जाए । व्यय कम करने के लिए नौकर सस्ते जुटाने चाहिए । अंग्रेज और हिंदुस्तानियों में से सस्ता कौन होगा ? हिंदुस्तानी । यदि हिंदुस्तानियों से शासन संबंधी उपयोगी काम लेना है तो शिक्षा कैसी होगी ? लाभ की चिंता तो मालिक ही करेंगे ।

लाभ, हानि, मालिक, नौकर, इस चर्चा में वित्त और व्यवस्था संबंधी प्रश्न जल्दी ही उठने लगे थे । 1820 से 1830 तक डायरेक्टर्ज़ भारतीय कंपनी सरकार को बार-बार लिखते रहे थे कि सरकारी खर्च कम किया जाए । बार-बार यही कहा जाता था कि सरकारी खर्च कम करने के लिए अधिक से अधिक भारतीयों को सरकारी पदों पर रखा जाए । अंग्रेज मालिक के लिए हिंदुस्तानी नौकर से सस्ता तो घोड़ा भी नहीं था । पहले यह कहा जा चुका है जिन भारतीय विद्यार्थियों को कलकत्ता मदरसा या बनारस संस्कृत कालेज में शिक्षा मिल रही थी उनसे यह अपेक्षा की जाती थी कि वे न्यायालयों और पर्यवेक्षणशाला में अंग्रेज अफसरों की सहायता करेंगे । लार्ड एलनब्रो, जो बोर्ड आफ कंट्रोल के अध्यक्ष थे, ने 23 अक्तूबर, 1830 को गवर्नर-जनरल लार्ड विलियम

बैंटिंक को लिखा था कि शासन पद्धति में परिवर्तन किए बिना भारत का प्रशासन वित्तीय दृष्टिकोण से सही नहीं चलाया जा सकेगा ।[1] पद्धति में परिवर्तन यह था कि भारतीयों को सरकारी कर्मचारियों के रूप में नियुक्त किया जाए । कारण यह था कि वे अंग्रेज कर्मचारियों की अपेक्षा बहुत सस्ते पड़ते थे । कौन-सी भाषा शिक्षा का माध्यम हो और कैसे और कितने स्कूल स्थापित किए जाएं—इन प्रश्नों का उत्तर केवल सरकारी नौकरियों के हिसाब से दिया जाने लगा । जिससे दो पैसे का लाभ हो वही उपयोगी, जहां पैर जमते हों वहीं बुनियाद ।

प्रारंभ से ही एक बात पर बल दिया गया था, वह यह कि सरकारी शिक्षा के द्वारा भारतीयों की नैतिक और बौद्धिक उन्नति होगी । अब यह भी स्पष्ट होने लगा कि यह बौद्धिक और नैतिक उन्नति किस उद्देश्य से की जाएगी । फिर वही प्रश्न शिक्षा के उपयोगी होने का उठ खड़ा होता है । डायरेक्टर्ज़ ने 1827 में गवर्नर-जनरल को लिखा कि शिक्षा प्रोग्राम सरकारी उपयोग को सामने रखकर आगे चलाया जाए । उन्होंने लिखा कि ऐसी आशा की जाती है कि प्रस्तावित शिक्षा-पद्धति न केवल उपयुक्त स्तर की बौद्धिक योग्यता उत्पन्न कर पाएगी अपितु शिक्षार्थियों के नैतिक स्तर को भी ऊंचा करेगी । फलस्वरूप आपको ऐसे कर्मचारी मिल जाएंगे जिनकी ईमानदारी और चरित्र-बल के आधार पर आप उनको सविश्वास महत्त्वपूर्ण सरकारी स्थान दे पाएंगे ।[2] नैतिक और बौद्धिक बल का धनी कौन ? जो सरकार-भक्त हो और स्वामी का विश्वासपात्र हो ।

26 जून, 1829 को गवर्नर-जनरल लार्ड विलियम बैंटिंक की ओर से शिक्षा समिति को एक पत्र लिखा गया जिस में शिक्षा, भाषा, सभ्यता और नैतिकता को सीधा नौकरी और प्रशासन के साथ जोड़ दिया गया । अब तो कोई संदेह रहा ही नहीं कि शिक्षा, भाषा और सभ्यता के संबंध में सरकार की इच्छा तथा प्रयास क्या था और अब तक सरकार किस दिशा में सोचती रही थी । पत्र में लिखा गया था कि भारत में यूरोपियन विज्ञान, नैतिकता और सभ्यता के प्रकाश से देश को ऊपर उठाने के लिए, तथा इस विषय के अंदर दृढ़ विश्वास करते हुए, बिना संदेह के गवर्नर-जनरल आपको यह अधिकार देते हैं कि आप अपने प्रबंध के अंतर्गत सभी संस्थाओं से संबद्ध लोगों में यह घोषणा कर दें कि ब्रिटिश सरकार की यह हार्दिक इच्छा है और पक्की नीति रहेगी कि अंततोगत्वा सारे देश में प्रशासन कार्य में सरकार की अपनी भाषा अर्थात् अंग्रेजी लागू कर दी जाए । सरकार हर प्रकार से प्रयत्न करेगी कि इस कार्यक्रम को हर उचित तथा क्रियात्मक तरीके से आगे बढ़ाया जाए ।[3] शिक्षा और भाषा के साथ-साथ अब सभ्यता भी जोड़ दी गई । धर्म-परिवर्तन की बात तो पुरानी-सी हो गई थी पर हुई थी मात्र सरकारी कागजों में, क्योंकि उस काम के लिए तो मिशनरी आ गए थे । सरकार ने सभ्यता और संस्कृति के क्षेत्र में शिक्षा और

1. उद्धृत : सलाहुद्दीन अहमद, 'सोशल आइडियाज एंड सोशल चेंज इन बंगाल, 1318-35' (लंदन, 1965), पृ० 151-52
2. ए०एन० वसु, 'इंडियन एज्यूकेशन इन पार्लमेंटरी पेपर्ज' (कलकत्ता, 1952), भाग 1, पृ० 160
3. उद्धृत : एडवर्ड्ज, 'ब्रिटिश इंडिया', पृ० 114

भाषा के माध्यम से भरत की स्थायी विजय का मिलता-जुलता किंतु देखने में फिर भी दूसरा कार्यक्रम बनाया। याद रहे कि विलियम बैंटिंक के वापस भारत आने का प्रबंध स्वयं चार्ल्स ग्रांट कर गए थे। बोर्ड आफ कंट्रोल के अध्यक्ष लार्ड एलनब्रो ने भारतीयों को सरकारी नौकरियां दिए जाने के संबंध में 1930 में जो पत्र लिखा था उसकी चर्चा पहले ही की जा चुकी है। उसी पत्र में लार्ड एलनब्रो ने लिखा था कि आप भारतीय नौजवानों को सरकारी नौकरियों के लिए तैयार करने के लिए शिक्षा का प्रबंध करें और नौकरियों के लिए उनको प्रोत्साहित करें।[4] उस पत्र के छः दिन के पश्चात् ही कोर्ट आव् डायरेक्टर्ज़ ने दूसरा पत्र गवर्नर-जनरल को लिख दिया कि भारतीयों को अंग्रेजी पढ़ने के लिए अधिक प्रोत्साहन देने के लिए आप इस बात को पूरे तौर पर ध्यान में रखिए कि सभी सरकारी विभागों में आहिस्ता-आहिस्ता अंग्रेजी को प्रशासन की भाषा के रूप में लागू कर दिया जाए।[5]

1833 में कंपनी का चार्टर फिर से नया होने के लिए संसद के सामने लाया गया। चार्टर ऐक्ट पास कर दिया गया। चार्टर ऐक्ट में एक धारा यह डाली गई कि ब्रिटिश राज के किसी भारतीय नागरिक अथवा निवासी को उसके धर्म, जन्म-स्थान, कुल या रंग के कारण कंपनी सरकार के अंतर्गत किसी स्थान या पद या नौकरी से वंचित नहीं रखा जाएगा। इस धारा को चार्टर ऐक्ट 1833 में डलवाने के लिए स्वयं लार्ड मकाले ने बहुत काम किया था।[6]

अब तो कोई शक रह ही नहीं गया कि भारत में नई शिक्षा अंग्रेजी भाषा के माध्यम से दी जाएगी और ऐसे विषय पढ़ाए जाएंगे जो सरकारी काम में सहायक होंगे।

यदि अंग्रेजीविद् नौजवानों से सरकारी नौकरी के माध्यम से सरकार-सेवा की आशा की गई थी तो शिक्षा कैसे और कौन से स्तर तक दी जाएगी—यह प्रश्न भी उठा। आज भी यह प्रश्न उठता है, इसलिए कि किसी भी व्यवस्थित समाज के लिए यह जानना आवश्यक है कि समाज व्यवस्था में शिक्षा का योगदान क्या हो। जब भारत स्वतंत्र हुआ और समाज की नई जिम्मेदारी नई सरकार ने संभाली, तो शिक्षा आयोग इसीलिए नियुक्त किए गए थे कि वे सरकार को बताएं कि नए युग में नई समाज व्यवस्था के अंदर शिक्षा क्या और कैसे योगदान दे। शिक्षा समाज व्यवस्था और समाज की उपलब्धियों का सशक्त साधन है। साथ में नई समाज व्यवस्था नई शिक्षा पद्धति का स्वयं निर्णय करती है। सभी जनतंत्रीय स्वतंत्र देशों में ऐसा होता है, अर्थात् स्वतंत्र और सुव्यवस्थित समाज में शिक्षा और समाज व्यवस्था दोनों के बीच एक पारस्परिक संगति हुआ करती है। शिक्षित वर्ग को सरकार की सहायता तो स्वतंत्र समाज में करनी ही होती है, साथ ही उनसे समाज को यह आशा भी होती है। किंतु शिक्षा केवल सरकारी नौकरी का ध्येय मानकर न दी जाती है और न ली जाती है। ऐसे समाज में शिक्षित वर्ग, समाज और सरकार इन तीनों के बीच एक विशेष और रचनात्मक साहचर्य और सहयोग होता है। ऐसे समाज में

4. उद्धृत : सलाहुद्दीन अहमद, 'सोशल आइडियाज़ एंड सोशल चेंज इन बंगाल, 1318-35', पृ० 151-52
5. उद्धृत : मुखर्जी, 'हिस्ट्री आफ एज्यूकेशन इन इंडिया', पृ० 354
6. टामस बर्बिंग्टन मकाले, 'वर्क्स' (अलबनी संस्करण, लौगमैन, 1898), XI, पृ० 582-83

शिक्षा का अवसर भी सब को यथायोग्य मिलना चाहिए, इसीलिए शिक्षा व्यवस्था में शिक्षित वर्ग, समाज और सरकार तीनों ही भागीदार होते हैं। अंग्रेजी राज में यह प्रश्न उठा तो अवश्य, किंतु इसका निर्णय केवल सरकार को करना था और उसी ने किया। शासक-शासित संबंध के संदर्भ में केवल शासक को ही यह अधिकार था।

शिक्षा केवल सरकारी नौकरी के लिए दी जाए इस नीति का परिणाम यह हुआ कि केवल सीमित स्तर पर सीमित वर्ग को ही शिक्षा देना पर्याप्त समझा गया। रुपया तो था केवल एक लाख। वह भी सारा खर्च निकालकर यदि शेष रहे तो खर्च होना था। यह स्थिति भी बदल जानी थी क्योंकि अब तो नई शिक्षा के लिए सरकार भी अपनी योजना बनाने जा रही थी। इसी कारण यह विचार किया गया कि शिक्षा देने हेतु सभी के लिए स्कूल खोले जाएं या कुछ चुने हुए लोगों के बच्चों के लिए। भारत में कुछ लोग ऐसे थे जो मुगल काल से ही सरकारी नौकरी की परंपरा में पले थे। उन्होंने मुगल काल में फारसी पढ़ी थी। फारसी पढ़ने का उनके धर्म-कर्म पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा था क्योंकि फारसी भाषा और साहित्य के प्रति उनका दृष्टिकोण मात्र व्यवसायात्मक रहा था। सरकारी नौकरी के कारण यदि उन्हें मुसलमानों से मिलना-जुलना पड़ा या उनके साथ खाना-पीना पड़ा तो इसको उन्होंने दिनचर्या का अंग मान लिया और धर्म-कर्म के प्रश्न को इससे अलग रखा। इन लोगों का अंग्रेजी के संबंध में भी यही दृष्टिकोण रहा। अंग्रेजी भाषा और साहित्य के अध्ययन को उन्होंने व्यावसायिक दृष्टिकोण से देखा। अंग्रेजी सरकार को केवल ऐसे लोगों की तलश थी जो निस्संकोच अंग्रेजी पढ़ें और सरकार की सहायता करें। यदि उन पर अंग्रेजी सभ्यता का रंग चढ़े तो बहुत अच्छा अन्यथा कम से कम इस नए मोड़ को चुनौती की भावना से तो न देखें। ऐसे ही एक व्यक्ति थे कलकत्ता के राधाकांत देव (1785—1867) जिन्हें अंग्रेजी शिक्षा और धर्म में कोई आवश्यक विरोध दिखाई नहीं पड़ा। इसी दृष्टिकोण के कारण देव के साथी उनको एक अजूबा समझते थे।[7]

सरकार को केवल इतने आदमी चाहिए थे जितने अत्यंतावश्यक हों। 1820 से कंपनी सरकार ने इस समस्या पर विशेष विचार करना प्रारंभ किया था। उन्होंने भारत में शिक्षा के प्रश्न को कंपनी के राजनीतिक हितों के अतिरिक्त आर्थिक हितों से भी जोड़ दिया था।[8] पहले भी 1793 में शिक्षा प्रस्ताव की दूसरी धारा को अस्वीकृत करने का कारण राजनीतिक आशंकाओं के साथ-साथ पैसे का खर्च भी था।[9] 1826 में जब यह नियम बन गया कि भारतीयों को सरकारी नौकरी में लिया जाएगा तो शिक्षा का प्रश्न वास्तविक व्यापार का प्रश्न बन गया। स्कूल खोलना भी व्यापार का हिस्सा बन गया। इसीलिए डायरेक्टर्ज़ ने गवर्नर-जनरल को लिखा कि यदि भारत में जगह-जगह स्कूल खोलोगे तो सरकार और जनता दोनों पूर्ण रूप से घाटे में रहेंगे।[10]

7. 'कलकत्ता रिव्यू' (1867), XIX, पृ० 90, 323
8. 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया', VI, पृ० 109
9. फिलिप्स, 'ईस्ट इंडिया कंपनी', पृ० 35, 159
10. 'पार्लमेंटरी पेपर्ज', उद्धृत : फिलिप्स, 'ईस्ट इंडिया कंपनी', पृ० 247

फायदे का सौदा क्या था ? प्रारंभ से ही कंपनी सरकार और डायरेक्टर्ज को यह भान हो चुका था कि केवल युद्ध में विजय प्राप्त करके भारत पर अपना सिक्का नहीं जमाया जा सकता । इसलिए भारत के लोगों पर अपनी न्यायप्रियता और उदारता का प्रभाव डाल कर उनके मन और भावनाओं पर अधिकार जमाना आवश्यक था । किंतु ये कौन लोग थे जिन पर यह प्रभाव डाला जाना चाहिए था ? कलकत्ता मदरसा इसलिए खोला गया था कि मुसलमान अभिजात वर्ग के मन पर सरकार की उदारता का प्रभाव पड़े और ऊंचे वर्ग के बेटों को ऊंची सरकारी नौकरियों के लिए तैयार करके उनको सरकारी मशीन के पुर्जे बनाया जाए । बनारस संस्कृत कालेज की स्थापना इसलिए की गई थी कि सरकार भारतीय रजवाड़ों से भी बढ़कर अपनी उदारता के कारण हिंदुओं के दिलों में जगह बना ले ताकि वहां से यूरोपियन न्यायाधीशों की सहायता करने के लिए हिंदू विधिशास्त्र के विद्वान पैदा किए जाएं । जैसे मुस्लिम ऊंचे वर्ग पर मदरसे के माध्यम से प्रभाव डालने की योजना बनाई गई थी वैसे ही ब्राह्मणों के मन को प्रभावित करने की योजना बनारस संस्कृत कालेज के माध्यम से बनाई गई । 1813 के प्रस्ताव में भी भारत के लर्निड् नेटिव्ज अर्थात् पंडितों के प्रोत्साहन पर बल दिया गया था । 1814 के पत्र में विद्वान हिंदुओं को अपने साथ सहमत कराने की योजना पर बल दिया गया था । बनारस के पंडितों की ओर गवर्नर-जनरल को विशेष ध्यान देने के लिए कहा गया था । 1824 में भी जो पत्र डायरेक्टर्ज़ ने लिखा था उसमें इस बात पर बल दिया गया था कि हिंदू या मुसलमानों की धार्मिक मान्यताओं या रीति-रिवाजों को चुनौती न दी जाए । चुनौती तो केवल उच्च वर्ग को ही दी जाती है । कमजोर और निम्न वर्ग को कौन पूछता है ? 1830 में अपने पत्र में डायरेक्टर्ज ने यह बात स्पष्ट कर दी कि अंग्रेजी शिक्षा केवल उच्च वर्ग को ही दी जाएगी । उन्होंने लिखा कि यदि शिक्षा में कोई सुधार या प्रगति करनी है और इस उद्देश्य को लेकर करनी है कि भारतीय लोगों के नैतिक और बौद्धिक जीवन की उन्नति हो तो उस उच्च वर्ग की शिक्षा की ओर ध्यान देना होगा जिनके पास समय है और जो दूसरे लोगों के मन पर प्रभाव डाल सकते हैं । उच्च वर्ग की शिक्षा के स्तर को ऊंचा करके उनके माध्यम से आप जनसाधारण के विचारों और भावनाओं में अधिक गहरा परिवर्तन ला सकते हैं, अपेक्षाकृत इसके कि आप सीधे एक भारी जनसमूह की शिक्षा को अपने हाथ में लेकर परिवर्तन लाने का प्रयत्न करें ।[11] अंग्रेजी शिक्षा वर्ग-विशेष की शिक्षा होगी यह दिशा निर्धारित हो गई । इसी वर्ग-विशेष में से संभवतः एक वर्ग-विशिष्ट का गठन भी किया जा सकेगा जो भारत की जनता के बीच अंग्रेजी ब्राह्मणों या ब्राउन गोरों का काम करेगा अर्थात् सरकार की नौकरी करेगा और स्वामिभक्त बन कर सरकार और जनता के बीच संपर्क का माध्यम बनेगा । थोड़े स्कूल, थोड़ी पूंजी, लाभांश निश्चित और पक्का । योजना ठीक थी ।

11. शार्प, 'सलेक्शंज फ्रॉम एज्युकेशनल रिकार्ड्स', पार्ट 1, पृ० 79

6
नई हवा : नया नशा

1813 के चार्टर ऐक्ट की धारा 13 के अनुसार मिशनरीज को खुली छुट्टी मिल गई थी कि वे भारत में आकर शिक्षा और धर्म का प्रचार करें । सरकार तो केवल बड़ी मछलियां पकड़ने की इच्छुक थी, इस कारण से कि बड़ी मछली स्वयं छोटी मछली को पकड़ लेंगी । मिशनरीज को खुली छूट थी कि वे बड़ी पकड़ें या छोटी । मिशनरीज ने सीधा जाल तो शिक्षा का ही फैलाया किंतु उसके तारों में निहित धर्म-परिवर्तन के कांटे भी थे । सरकार इस बात को जानती थी और चुपके-चुपके मिशन संबंधी काम का अनुमोदन और सराहना भी करती थी ।

जैसे ही 1813 में भारत के द्वार मिशनरीज के लिए खुले, वे बाढ़ के समान उमड़ पड़े । कई मिशन संस्थाएं पहुंच गईं और उन्होंने स्कूल और कालेज खोल डाले । बैपटिस्ट मिशन ने 1818 तक बीस स्कूल और सैरामपुर कालेज खोल दिए । लंदन मिशन सोसायटी ने 1818 तक 36 स्कूल खोले और 1820 में शिवपुर में एक कालेज खोल दिया । कलकत्ता स्कूल सोसायटी ने 1819 में अपने स्कूल खोल दिए । 1818 में बनारस में जयनारायण घोशाल अंग्रेजी स्कूल खुल गया । 1830 में स्काटिश मिशन ने स्काटिश चर्च कालेज खोल दिया । सरकार की भाषा, शिक्षा और विशेषकर नौकरी संबंधी नीति के कारण इन स्कूलों और कालेजों में विद्यार्थियों की भीड़ लग गई । अंग्रेजी भाषा की शिक्षा के लिए इस तरह बढ़ती मांग को देखकर सामान्य लोक शिक्षा समिति को अपनी ओरियंटल संस्थाओं में भी अंग्रेजी की कक्षाएं प्रारंभ करनी पड़ीं । 1824 में कलकत्ता मदरसा में, 1827 में संस्कृत कालेज में, 1828 में दिल्ली कालेज में, 1830 में बनारस संस्कृत कालेज में, 1834 में मुर्शिदाबाद कालेज में और 1835 में आगरा कालेज में अंग्रेजी की क्लासें खोल दी गईं । 1817 में राजा राममोहन राय, डेविड हेयर और एडवर्ड हाइड ईस्ट के प्रयास से विद्यालय अर्थात् हिंदू कालेज खुला जो बाद में प्रेजिडेंसी कालेज बन गया ।

इन सभी संस्थाओं में अंग्रेजी पढ़ने के लिए उत्सुक विद्यार्थियों की भीड़ लग गई । चार्ल्स ग्रांट की भविष्यवाणी सत्य निकली । उन्होंने कहा था कि अंग्रेजी शिक्षा के आरंभ होने के तत्काल बाद नौजवानों की भीड़ लग जाएगी । इन नौजवानों को ऐसा लगा जैसे उनके सामने एक नई दुनिया के द्वार खुल गए हैं । एक नई उमंग और नए उत्साह से उनका जीवन प्रफुल्लित-सा होता दिखाई दे रहा था । दो वर्षों में ही कलकत्ता स्कूल सोसायटी ने 30,000 पुस्तकें बेच लीं । अलेग्जांडर डफ़, जो एक बहुत ही महत्त्वाकांक्षी मिशनरी थे, ने इस दृश्य का जो चित्रण किया

है उसमें एक रोचक अतिशयोक्तिपूर्ण वास्तविकता की झलक दीख पड़ती है : वे कहते हैं कि ये नए नौजवान गलियों में हमारा पीछा करते, हमारी पालकियों के दरवाजे खोल लेते, और चेहरे पर एक सीधी-सच्ची सौम्यता लिए इस प्रकार विनम्रता से (अंग्रेजी शिक्षा के लिए) प्रार्थना करते कि उनकी दयनीय दशा को देखकर पाषाण हृदय भी अवश्य द्रवित हो जाता।[1] रोजी-रोटी की तलाश में भटकते नौजवानों का अंग्रेजी मसीहाओं के सामने इस प्रकार झोली फैलाना और नौकरी का वरदान मांगना भारतीय इतिहास का एक कड़वा सत्य रहा है और आज भी है।

सरकारी शिक्षा समिति तो नए-पुराने के हेर-फेर में ही फंसी हुई थी। इस नई हवा के ये नए मतवाले अपना अलग ही रंग दिखा रहे थे। भारत के इस उभरते भविष्य की एक तसवीर विद्यालय के विद्यार्थियों के माध्यम से खींची गई है। इन नौजवानों ने अंग्रेजी भाषा साहित्य और विज्ञान पर जो अधिकार प्राप्त किया था वह शायद ही यूरोप के किसी महाविद्यालय के विद्यार्थियों ने प्राप्त किया हो। विद्यालय से बड़े मेधावी स्नातक निकले जिन्होंने बहुत नाम कमाया और आगे चलकर उन्होंने स्कूल खोलकर अंग्रेजी शिक्षा-प्रचार में बड़ा योगदान दिया। ये स्नातक थे के०एम० बैनर्जी, माइकल मधुसूदन दत्त, काशी प्रसाद घोष, भूदेव मुखर्जी। स्वयं शिक्षा समिति ने 1831 में कहा था कि भारत में अंग्रेजी शिक्षा के प्रति एक विशेष और सराहनीय अभिरुचि उत्पन्न हो गई है और विद्यालय के स्नातकों द्वारा चलाए गए स्कूल स्थान-स्थान पर बन रहे हैं।[2]

यह तो है चित्र का एक पक्ष। दूसरा पक्ष था इससे भिन्न और उसका बौद्धिक विकास से दूर का भी संबंध नहीं था। वह था एक नई सभ्यता का नशा। विद्यार्थियों के पुराने विश्वास टूट चुके थे। नए बने नहीं थे। मात्र नई उमंग ने उनको पागल बना दिया था। एक विचित्र-सा तूफान उनके जीवन में आ गया था। उनके जीवन में एक नया सूर्य पश्चिम से निकला तो, किंतु इस नए सवेरे में वह एक नए अंधेरे का संदेश भी साथ ले कर आया। इन नौजवानों ने जात-पांत के बंधन तोड़ डाले, रूढ़ि और परंपरावाद को ठोकर मार दी सो तो ठीक, किंतु साथ में समस्त हिंदू धर्म, शुद्ध एवमेव विकृत, सनातन एवमेव नूतन, वेदांत और पुराण, सबको ही तो ठुकरा दिया। और इस प्रकर वे एक नए शून्यवाद के शिकार होकर अपने आप को सत्य के स्वच्छंद सहचारी कहने लगे। वे गौ तथा सूकर का मांस खाते, शराब पीते और एक जाम हाथ में लिए अपने आपको नए सत्य के पुजारी कहने लगे। वे सब के सब इस नई तथाकथित आत्मानुभूति पर गौरव करते थे।[3] सिगरेट के धुएं और चाय के बादलों में उड़ते अंग्रेजी के मनचलों को तो मैंने भी 1947 तक देखा है। बाद में तो सारी हवा और भी बदल गई।

सनातन धर्म पर यह नया और सीधा प्रहार हो रहा था। इस प्रहार और उसकी बढ़ती सफलता के कारण मुख्यतया दो थे : हिंदू धर्म और उसके मानने वालों का पिछड़ापन और ईसाई मत, विशेषकर उसे मानने वालों की राजशक्ति। उस समय तक दयानंद, विवेकानंद और गांधी जी

1. उद्धृत : सी०एफ० एंड्रूज और ए० मुखर्जी, 'राइज एंड ग्रोथ आफ दि कांग्रेस इन इंडिया' (मुंबई, 1938), पृ० 70
2. उद्धृत : मुखर्जी, 'हिस्ट्री ऑफ एज्यूकेशन इन इंडिया', पृ० 70
3. वही, पृ० 71-72

तो क्षेत्र में थे ही नहीं और हिंदू धर्म केवल कर्मकांड, अंधविश्वास और रूढ़िवाद का पुलिंदा मात्र बनकर रह गया था। चार्ल्स ग्रांट के विचार, डायरेक्टर्ज़ का 1824 का पत्र, मिशनरियों के वक्तव्य इत्यादि इसी बात पर बल देते थे। यह भी मान्यता ईसाई एवं सरकारी अफसरों की थी कि किसी भी धर्म के सत्यस्वरूप का अनुमान उसके मानने वालों की बौद्धिक, आर्थिक और सामाजिक अवस्था से लगाया जा सकता है। हिंदू समाज की सामयिक अवस्था तो निष्प्राण-सी थी। इसीलिए इस धर्म को झूठा, वाहियात और खुराफातप्राय समझा जाता था। इसके सामने ईसाई मिशनरी और ईसाई अफसर भारत विजेता माने जाते थे। इसी कारण ईसाई मत को सशक्त समझा जाता था। अंग्रेजी पढ़ने वाले विद्यार्थियों को ईसाई मत का न केवल यह राजनीतिक रूप ही दिखता था बल्कि वे शेक्सपियर, मिल्टन, बेकन, वर्डस्वर्थ, बैन्थम्, मिल और सारे पाश्चात्य दर्शन, तर्कशास्त्र और साइंस को ईसाई मत की ही देन समझते थे। हिंदू धर्म के ढिलमिल ढांचे के विपक्ष में जब इन विद्यार्थियों ने पश्चिमी सूर्य की यह सफल चकाचौंध देखी तो उनकी तो आंखें चौंधिया गईं। वे समझने लगे कि सच्ची और ऊंची शिक्षा केवल ईसाई शिक्षा है। मिशन स्कूलों में उन पर प्रतिदिन नया रंग चढ़ाया जाता रहा। कलकत्ते के एक पत्र 'द इंग्लिशमैन' ने तो यहां तक लिख दिया कि लोगों को उनके जंगली और बर्बर रूढ़िवाद और व्यर्थ कर्मकांड से छुड़ाने का पक्का और सबसे अच्छा तरीका केवल यह है कि उनमें अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार किया जाए।[4] उनको ईसाई बनाया जाए, यह कहने की आवश्यकता ही नहीं रह गई थी।

अलेग्जांडर डफ़ धर्म-परिवर्तन के काम में बड़े सफल रहे। सबसे पहले उन्होंने 1832 में कृष्ण मोहन बैनर्जी को ईसाई बनाया। फिर महेशचन्द्र घोष, कैलाशचन्द्र मुखर्जी, प्यारे मोहन रुद्र, ए०सी० मजुमदार, लालबिहारी डे और माइकल मधुसूदन दत्त ईसाई बने। 1844-45 में प्रसन्नचन्द्र बैनर्जी और ताराचन्द्र बैनर्जी ईसाई बने। ये दोनों कुलीन ब्राह्मण थे और स्कॉटिश चर्च कालेज के विद्यार्थी थे। इनके ईसाई बनने से तो सारे शहर में सनसनी फैल गई। वास्तव में सारे ही विद्यार्थी जो ईसाई बने वे ऊंचे परिवारों के थे। मिशनरी ऐसा मानते थे कि यदि ब्राह्मणों और दूसरे ऊंचे वर्ग के हिंदुओं को ईसाई बना लिया गया तो बाकी सब तो अपने आप उनके पीछे चले आएंगे। लालबिहारी डे द्वारा लिखित 'अलेग्जांडर डफ़ के संस्मरण' (रिकलेक्शंज़ आफ अलेग्जांडर डफ़) नाम की पुस्तक में ईसाई बनने वालों की एक लंबी सूची दी हुई है। एक संत से किसी ने पूछा कि भगवान को पाने का क्या उपाय है ? संत ने उत्तर दिया :

रब्ब दा की पाणा
उत्थों लाह् के इत्थे लाणा ॥

संत उस समय किसी बूटे की पौध लगा रहे थे। उनका मतलब था कि मन को विकारों से हटाकर अर्थात् उखाड़कर भगवान के रास्ते पर लगाना। ईसाई मिशनरी नौजवानों के मन को तत्कालीन हिंदू परंपरा से हटाकर ईसाई परिवार में मिला देते थे और एक नए रब की प्राप्ति के सपने सजाते थे। केवल अंग्रेजी शिक्षा से भी हिंदू विद्यार्थी उखड़ जाते थे और जैसे ही वे अपनी जड़ों से

4. देखिए : एडवर्ड्ज, 'ब्रिटिश इंडिया', पृ० 141

उखड़ते थे पादरी उनको दबोच लेते थे। गिरते को थोड़ा सहारा ही काफी होता है। उनमें राममोहन जैसा विश्वास तो था नहीं और ईसाई तर्क का कोई उत्तर भी उनके पास नहीं था। नए सुरूर में वे नौजवान उखड़ते चले गए।

राजा राममोहन राय के जीवन में एक बड़ी रोचक घटना घटी। राममोहन जी हिंदू धर्म के रूढ़िवाद के विरोधी थे और ईसाई मत को समझने में रुचि भी लेते थे। उनके तर्कवाद और नई उदारता को देखकर कलकत्ते के बिशप मिडल्टन महोदय को गलतफहमी हो गई। उन्होंने समझा कि राजा साहब ने धर्म-परिवर्तन कर लिया है। अतः उन्होंने उनको बधाई दी कि आपने सच्चे धर्म का अनुसरण करना स्वीकार कर लिया। राजा साहब ने उत्तर दिया कि श्रीमन्, आपका अनुमान ठीक नहीं है। मैं एक अंधविश्वास को छोड़कर दूसरे को ग्रहण क्यों करूं ?[5] तर्क उखाड़ तो सकता है किंतु स्वतः श्रद्धा प्रदान नहीं कर सकता। श्रद्धा के लिए चाहिए तर्क से ऊंचा विश्वास और आदि गुरु की कृपा। अंग्रेजी शिक्षकों ने अपने तर्क से विद्यार्थियों के अंधविश्वास को उखाड़ दिया और ईसा-सेवियों ने ईसाइयत का अनुदान देकर खाली जगह को भर दिया। विद्यार्थियों ने उसी को प्रसाद समझकर भोग लगा लिया। अंधे को अंधेरे में जुगनू भी रास्ता दिखा सकता है।

राजा राममोहन राय का नाम दो कामों के लिए विख्यात है : हिंदू धर्म का सुधार और हिंदू समाज का पुनर्जागरण। ये दोनों कार्य इंडियन रिनेसां अर्थात् भारत की पुनर्जागृति के नाम से जाने जाते हैं। हिंदू धर्म के सुधार के लिए उन्होंने ब्राह्म समाज की स्थापना की। उन्होंने अपनी पुस्तक 'तोहफातुलमवाहिदीन' में सुधार संबंधी बातें लिखी हैं। वे केवल तीन बातों को मानते थे : मात्र एक सृष्टि रचयिता ईश्वर, जीवात्मा, और आवागमन अर्थात् कर्म सिद्धांत। वे सगुण साकार ईश्वर में विश्वास नहीं करते थे। अवतार, पीर, पैगम्बर, चमत्कार, तीर्थयात्रा, व्रत, उपवास इत्यादि किसी बात को नहीं मानते थे। उन्होंने इन सबको अंधविश्वास मानकर अपने तर्क से उखाड़ फेंका। परिणामस्वरूप हिंदू धर्म उनके लिए केवल दर्शन और बुद्धियोग का विषय बनकर रह गया। बुद्धियोग और निराकार साधना केवल विरले ज्ञानी जनों का काम है या ऊंचे स्तर के दार्शनिकों का। जनसाधारण की भक्ति की भूख इससे नहीं मिटती। उसे पूजा-अर्चना और आराधना की आवश्यकता है। स्वामी दयानंद जिन्होंने निराकार का प्रतिपादन करके पाखंड खंडिनी पताका हरिद्वार में फहराई थी उन्होंने भी निराकार और निर्गुण भक्ति के साथ-साथ सगुण भक्ति, पंच महायज्ञ और सोलह संस्कारों को माना है। जनसाधारण को धर्म का सहारा तो चाहिए ही, साथ ही उस सहारे के आधार-अवलंबन इत्यादि भी चाहिए। यज्ञ, तीर्थ, देवस्थान, मूर्ति ये कल्पना की कृतियां हैं जिन सबके पीछे गुणातीत, निराकार और श्रद्धा की प्रेरणा है। दर्शन और कल्पना दोनों के माध्यम से हमने अपने ध्यानार्थ इन आलंबनों का सर्जन किया है। जैसे वासना हेतु, फल, आश्रय और आलंबन का सहारा लेती है वैसे ही उसी प्रकार का सहारा श्रद्धा को भी चाहिए। राममोहन राय दर्शन विशेष की बौद्धिक प्रक्रिया में उलझकर इन मनोवैज्ञानिक तथ्यों को

5. 'कलकत्ता गजट' (कलकत्ता, 8-10-1829)

भुला बैठे और नास्तिकवाद के इतने निकट आ गए कि स्वयं उन्हीं को अपने तर्क से भय लगने लगा।[6] उन्होंने स्वयं कलकत्ते के एक ऐसे वर्ग की चर्चा की है जिसने पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त करके अपने धर्म के श्रद्धा-स्तंभ तोड़ना तो सीख लिया किंतु कोई नए स्तंभ निर्माण करना नहीं सीखा। इसी वर्ग के सदस्यों में हिंदू नौजवान भी थे। राममोहन राय के मत में ये लोग रूढ़िवादी हिंदुओं की अपेक्षा अधिक खतरनाक और नीच थे।[7]

नई हवा में उड़ने वाले अंग्रेजी भाषा, शिक्षा और ईसाइयत के नशे में देश को किधर ले जाएंगे इसका पता किसी को नहीं था। जो जागे थे वे नशे में थे। बाकी सब सोए पड़े थे।

6. सुमीत सरकार। देखिए : वी०सी० जोशी, 'राममोहन राय' (विकास, 1975), पृ० 50
7. एस०डी० कोलेट, 'लाइफ एंड लेटर्ज आफ राममोहन राय' (लंदन, 1900), पृ० 371

7

राजा राममोहन राय : पुनर्जागृति का प्रश्न

राजा राममोहन राय को 'फ़ादर आव इंडियन रिनेसां' अर्थात् भारत पुनर्जागृति का प्रवर्तक कहा जाता है। वे अंग्रेजी राज के अंतर्गत नई हवा में अंग्रेजी भाषा, साहित्य, साइंस और सभ्यता के माध्यम से ऐसे भारत का स्वप्न ले रहे थे जो आर्थिक और सामाजिक समृद्धि में इंग्लैंड और यूरोप के समकक्ष हो। वे भरत की उन्नीसवीं शती को यूरोप और इंग्लैंड की पंद्रहवीं शती के बराबर मान कर यहां आने वाली नई रोशनी को यूरोपियन रिनेसां (पुनर्जागृति) के समान समझते थे। उनके मत में इस नई जागृति का माध्यम था अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी शिक्षा।

जब सामान्य शिक्षा समिति 1823 में कलकत्ता संस्कृत कालेज खोलने की योजना बना रही थी तो राजा राममोहन राय ने उस योजना का विरोध करते हुए एक पत्र गवर्नर-जनरल लार्ड एमहर्स्ट को लिखा था। उन्होंने इंग्लैंड में पुनर्जागृति कैसे आई इस विषय की चर्चा करते हुए कहा था कि उस समय मध्यकालीन दर्शन-शास्त्र की जगह बेकन के दर्शन और विज्ञान ने ले ली थी। मात्र मध्यकालीन दर्शन के सहारे तो इंग्लैंड अंधेरे और अज्ञान से बाहर नहीं निकल सकता था। इंग्लैंड को नए विज्ञान की दिशा में आगे चलना वांछनीय था, इसीलिए उसने मध्यकालीन दर्शन के स्थान पर बेकन और विज्ञान को अपना लिया था। उसी तरह से यदि भारत को अंधकार में ही रखना है तो संस्कृत शिक्षा पद्धति उसका अति उत्तम साधन है। किंतु यदि भारत को अंधेरे से उजाले में लाना है तो एक नई, उदार और प्रबुद्ध शिक्षा पद्धति लागू करनी पड़ेगी जिसमें पाठ्यविषय हों गणित, प्राकृतिक दर्शन, कैमिस्ट्री और विज्ञान की अन्य उपयोगी शाखाएं। उन्होंने यह सुझाव भी दिया कि इस पद्धति को संपन्न करने के लिए प्रस्तावित एक लाख रुपए से एक कालेज खोला जाए जिसमें आवश्यक पुस्तकों और प्रयोगशालाओं का प्रबंध हो और वहां यूरोप में शिक्षा-प्राप्त कुछ योग्य व्यक्तियों को प्राध्यापक रूप में नियुक्त किया जाए।

राममोहन राय के विचार में प्राचीन भारतीय भाषा, साहित्य तथा सभ्यता को मात्र नए इंजेक्शन की आवश्यकता नहीं थी। उनके मत में तो सारे समाज को ही बदलना अनिवार्य था। केवल पुराने प्रवाह को नया मोड़ देने से काम चलने वाला नहीं था। उनके विचार में यहां का समाज और साहित्य दोनों पूर्ण रूप से जर्जर हो चुके थे और पूरे के पूरे ढांचे को ही बदलकर नया करने की आवश्यकता थी। समाज का पुनर्नवन केवल ज्ञान-विज्ञान और भाषा के पश्चिमी संस्करण से ही संभव था। तदर्थ उन्होंने जो विषय-सूची दी, अथवा प्राध्यापकों की नियुक्ति के

बारे में सुझाव दिया तथा संस्कृत और अंग्रेजी के महत्त्व का जो तुलनात्मक विश्लेषण किया उस सारे क्रियाकलाप में वे अंग्रेजी के पक्ष में बह गए। विशेषकर भाषा के क्षेत्र में वे एक मौलिक गलती कर गए। इस बात पर बहुत कम ध्यान दिया गया है। लोग यह भूल जाते हैं कि यूरोप में जो वैचारिक और वैज्ञानिक क्रांति आई थी वह लोकभाषा के माध्यम से आई थी। राजा साहब यह भी भूल गए कि बेकन के दर्शन ग्रंथ लैटिन भाषा में लिखे गए थे, अंग्रेजी में नहीं। इस बात को कुरेदने से कोई विशेष लाभ तो होने वाला है नहीं क्योंकि इतिहास को उलटाया नहीं जा सकता किंतु मौलिक गलतियों को वैचारिक स्तर पर तो ठीक किया जा सकता है। हमारे लिए यह समझना अत्यंत आवश्यक है कि जागृति यदि प्राचीन भाषा के माध्यम से नहीं आ सकती तो विदेशी भाषा के माध्यम से भी नहीं आ सकती। जो भी तथाकथित जागृति यहां आई है वह अंग्रेजी भाषा के माध्यम से कितने लोगों के लिए आई है ? क्या दो सौ वर्ष के पश्चात् भी ऐसे लोग नहीं हैं, जिन तक अंग्रेजी के माध्यम से नया संदेश नहीं पहुंच पाया है ?

राजा राममोहन राय ने विज्ञान की तुलना में संस्कृत और मध्यकालीन शिक्षकों की चर्चा वैसे ही की है जैसे टामस स्प्रैट ने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री आफ दि रायल सोसाइटी' में नए वैज्ञानिकों की तुलना में मध्यकालीन दार्शनिकों की की है। मध्यकालीन दार्शनिक व्यर्थ के प्रश्नों में उलझे रहते थे जिनका संबंध दैनिक जीवन से था ही नहीं। उदाहरणार्थ वे थियोलजी के ऐसे प्रश्नों को सुलझाने में लगे थे जैसे : सूई की नोक पर कितने फरिश्ते बैठ सकते हैं ? दूसरी कमी उनकी थी 'अथारिटीवाद' अर्थात् जो शास्त्र में लिखा है वह पत्थर की लकीर है। एक शिष्य ने गुरु जी से कहा कि महाराज आप कहते हैं कि शास्त्र के अनुसार चांद पूर्णतः निर्मल है, मुझे तो उसमें धब्बे दिखाई देते हैं। गुरु जी ने उत्तर दिया कि शास्त्र झूठा नहीं हो सकता। जो धब्बा तुम्हें दीखता है संभवतः वह तुम्हारी आंख में है और उसी का बिम्ब तुम्हें चांद पर दीखता है। तीसरी कमजोरी उनकी थी लैटिन भाषा जो जनसाधारण की भाषा नहीं थी। नए विज्ञान के गुण थे उपयोगिता और बुद्धिगम्यता, और उसका माध्यम था लोकभाषा अर्थात् अंग्रेजी। इंग्लैंड में अंग्रेजी और फ्रांस में फ्रेंच, ऐसे ही इटली में इटैलियन और जर्मनी में जर्मन। राममोहन राय भी उपयोगी विद्या को ही उचित विषय समझते थे। बौद्धिक परिष्कार को भी वे ऊंचा स्थान देते थे। किंतु वे यह गलती अवश्य कर गए कि हिंदुस्तान के संदर्भ में लैटिन और संस्कृत को तो बराबर पुरानी भाषा कह गए किंतु साथ ही अंग्रेजी को आधुनिक भाषा कह गए। अंग्रेजी इंग्लैंड में आधुनिक भाषा थी और है, भारत में नहीं।

भारत में आधुनिक भाषाएं थीं और हैं, और वे हैं भारतीय भाषाएं। आधुनिक अर्थात् माडर्न भाषा का अर्थ है लोकभाषा। इंग्लैंड की लोकभाषा भारत की लोकभाषा कैसे हो गई ? इसलिए उस समय उन्होंने जो बात कही वह लोक की नहीं थी, भद्रलोक की थी।

यूरोपियन रिनेसां के समय शिक्षा का माध्यम था लैटिन भाषा। आधुनिक लोक भाषाओं को माध्यम बनाने के लिए जनता को विशेष संघर्ष करना पड़ा था। उस समय की भाषाएं तब तक पूरी विकसित भी नहीं थीं। अतः उनके समर्थकों को इन भाषाओं के शिक्षा और विज्ञान

माध्यम रूप में स्वीकृत होने के लिए फ्रांस, इटली और इंग्लैंड में लोकभाषा आंदोलन करना पड़ा था, तब कहीं लोकभाषाएं लैटिन के स्थान पर आ सकी थीं। इंग्लैंड में इस आंदोलन के अग्रणी नेता थे एलियट, एस्कम, विल्सन, पटनम और मलकास्टर। मलकास्टर ने बड़े साहसपूर्वक लैटिन के विद्वानों से पूछा था : क्या यह कोरी भाषाई दासता नहीं है कि शिक्षा के लिए लैटिन सीखने में इतना समय नष्ट किया जा रहा है जबकि शिष्यों की अपनी ही भाषा उपलब्ध है ? इस विचार के अनुसार लैटिन दासता का प्रतीक थी और अंग्रेजी स्वतंत्रता का। इस आंदोलन के पीछे वास्तविक मांग यह थी कि ज्ञान-विज्ञान और शिक्षा लोकभाषा के माध्यम से सब को उपलब्ध होनी चाहिए, जो भी उसकी प्राप्ति की इच्छा करे।[1] अंग्रेजों ने लैटिन को इसलिए छोड़ा कि वह केवल वर्ग-विशेष की भाषा थी किंतु आश्चर्य है कि हमने अंग्रेजी को इसलिए अपनाया क्योंकि यह वर्ग विशेष की भाषा है।

संस्कृत और लैटिन भाषाएं शास्त्रीय (क्लासिकल भाषाएं) कहलाती हैं। वे केवल शास्त्रों की भाषाएं हैं और आजकल लोकभाषा के रूप में प्रयोग में नहीं लाई जातीं। अंग्रेजी बोलचाल की भाषा है। इसीलिए राममोहन राय इसके पक्ष में थे। किंतु वे यह भूल गए कि अंग्रेजी हिंदुस्तान में तो बोलचाल की भाषा नहीं थी। यहां तो वह केवल शास्त्रों की भाषा जैसी ही थी। इसके पढ़ने में उतना ही प्रयास चाहिए था जितना संस्कृत के पढ़ने में, अथवा लैटिन के पढ़ने में जिसके विरुद्ध इंग्लैंड में आंदोलन हुआ था। स्वयं राममोहन राय ने संस्कृत का विरोध उसी आधार पर किया था। यदि शिक्षा-प्राप्ति के लिए पहले भाषा की प्राप्ति का प्रयास करना पड़े तो वही भाषायी दासता आ गई जिसे इंग्लैंड में सोलहवीं शती में समाप्त कर दिया गया था। विचित्र बात यह है कि लैटिन के स्थान पर अंग्रेजों ने तो अंग्रेजी को शिक्षा-भाषा के रूप में अपनाकर बौद्धिक स्वतंत्रता प्राप्त की थी, किंतु राममोहन राय संस्कृत की दासता को समाप्त करके दूसरी विदेशी भाषा की दासता के समर्थक बने और कहलाए नई जागृति के नेता।

अंग्रेजी की बात करते-करते हम इस बात को भी भूल जाते हैं कि इसके लिखने और पढ़ने में हमें दुगुना परिश्रम करना पड़ता है। यह भाषा दो रूपों में हमारे सामने आती है : एक लिखित और दूसरा उच्चरित, और दोनों के बीच कोई सामंजस्य नहीं है। इस पर किसी प्रकार का कोई नियंत्रण नहीं है। कई सौ वर्ष से प्रयास किया जाता रहा है कि इसकी लिखाई ठीक की जाए किंतु किसी को कोई सफलता नहीं मिली। जिन बच्चों की अपनी भाषा अंग्रेजी है वे भी इसे लिखने में सिर पीटते हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अंग्रेजी को शिक्षा-माध्यम रूप में अपनाने का अर्थ हुआ—अंधा न्योते दो बुलावे।

इस बात का प्रमाण यह भी है कि स्वयं अंग्रेज शासकों और विचारकों ने भारत के संदर्भ में अंग्रेजी को क्लासिकल भाषा कहा था। लार्ड एल्फिस्टन और लार्ड मकाले भी अंग्रेजी को क्लासिकल भाषा ही कहते थे। एल्फिस्टन बड़े स्पष्ट और खुले विचारों के धनी थे। उन्होंने लिखा था कि भारत में अंग्रेजी केवल एक क्लासिकल भाषा के रूप में ही पढ़ी और पढ़ाई जा

1. देखिए : ए०सी० बां, 'ए हिस्ट्री आफ दि इंग्लिश लैंग्वेज' (अलाइड, दिल्ली 1978), पृ० 243-47

सकेगी।[2] और जब से अंग्रेजी यहां लागू हुई तभी से यह केवल शास्त्रीय भाषा के रूप में ही पढ़ी और पढ़ाई जाती रही है। बहुत कम लोग ऐसे हैं जो इसका प्रयोग दैनिक बोलचाल के लिए करते हैं।

इंग्लैंड तथा सारे यूरोप में रिनेसां के समय जो भाषाएं स्वीकार हुई थीं—अंग्रेजी, फ्रेंच, इटैलियन, जर्मन आदि, उनके समान यदि भारत के लिए कोई भाषा ढूंढ़ी जाती तो वह कोई भारतीय लोकभाषा ही होती और होनी चाहिए थी। वह भाषा हमारे वर्तमान को अतीत से नहीं टूटने देती और हमें भावी विकास की ओर अग्रसर होने का माध्यम भी बन जाती। इसी बात को सामने रखकर स्वामी दयानंद ने गुजराती ब्राह्मण होते हुए भी संस्कृत और वेद का प्रचार करने के लिए एक बंगाली मित्र के परामर्श पर संस्कृत को छोड़कर हिंदी को अपनाया था। भाषा जो भी समयानुसार अपनाई जाती—हिंदी, उर्दू या कोई और—चाहे वह रोमन, देवनागरी या उर्दू किसी भी लिपि में होतीं, यदि अपना ली जाती तो बहुत बड़ी सेवा इस देश की हो जाती। यदि ऐसा नहीं हुआ तो इसलिए कि व्यापारी और राजनीतिक तत्त्व काम कर रहे थे।

ऐसा लगता है कि अंग्रेजी का समर्थन करने के पीछे राजा राममोहन राय के मन में भी कोई न कोई राजनीतिक या व्यापारिक कारण अवश्य था। क्योंकि उन्होंने वास्तव में रिनेसां का समर्थन नहीं किया उन्होंने भाषायी साम्राज्यवाद अथवा वर्गवाद का समर्थन किया। वे अंग्रेजी राज से लाभ उठाने वालों में से थे। वे बंगाल के मध्यमवर्गीय भद्रलोक में से एक ऐसे परिवार के सदस्य थे जिसे सरकार की स्थायी भूमि योजना से बहुत लाभ पहुंचा था। इसी कारण उनके भूमि संबंधी और वित्तीय हित अंग्रेजी राज से जुड़े थे। इनके पिता रमाकांत राय माल विभाग में एक छोटे अफसर थे और साथ में छोटे-से जमींदार भी। स्थायी योजना के पश्चात् वे एक बड़े जमींदार बन गए। आहिस्ता-आहिस्ता उन्होंने रुपया उधार देकर ब्याज कमा कर और कंपनी का काम करके पर्याप्त धन इकट्ठा कर लिया और भूमि खरीद ली। फिर ब्रिटिश एजेंसियों में रुपया लगा दिया, विशेषकर मैकिंटोश एंड कंपनी में। 1831 में मैकिंटोश एंड कंपनी घाटे में जाने लगी और अंत में बैठ गई। राजा राममोहन राय ने डायरेक्टर्ज़ को लिखा कि उन्हें कर्जा दिया जाए क्योंकि यह कंपनी उनकी एजेंट थी। वे इसी कारण इंग्लैंड भी गए थे ताकि कंपनी के डायरेक्टरों की सहायता से मैकिंटोश एंड कंपनी को बचाने का या अपना रुपया निकालने का कोई उपाय जुटाया जाए। 1833 में मकाले पार्लमेंट में कंपनी चार्टर के नया करने के संबंध में बोले थे तो बड़े उत्साह और आदर से उन्होंने अपने एक हिंदुस्तानी मित्र की चर्चा की थी जो अंग्रेजी शिक्षा के बड़े पक्के समर्थक थे और उस समय इंग्लैंड में ही थे। ये मित्र संभवतः राममोहन राय ही थे। यह आश्चर्य की बात है कि भारत पर जब साम्राज्यवाद का भाषा-शिकंजा कसा जा रहा था तो राजा साहब अंग्रेजी भाषा के नकारात्मक और समाज विरोधी परिणामों को नहीं देख पाए।[3]

2. शार्प, 'सलेक्शंज फ्रॉम एज्यूकेशनल रिकार्ड्स', पार्ट I, पृ० 117
3. सुमीत सरकार। देखिए : वी०सी० जोशी, 'राममोहन राय', पृ० 46-48

8
लक्ष्य की रूपरेखा

हेस्टिंग्ज़ के समय से लेकर 1833 तक एक ही समस्या मुख्य रूप से कंपनी डायरेक्टर्ज़, कंपनी सरकार और ब्रिटिश पार्लमेंट के सामने रही थी : राज की जड़ें पक्की कैसे की जाएं। समस्या तो प्रारंभ से ही रही थी किंतु हेस्टिंग्ज़ के समय में शिक्षा और राज-स्थापना इन दोनों समस्याओं को एक ही रूप में जेड़ दिया गया। शिक्षा पहले तो सेवा रूप में अपनाई गई जैसे कलकत्ता मदरसा और बनारस संस्कृत कालेज के माध्यम से, उसके बाद शिक्षा को एक सुनिश्चित पद्धति के रूप में लागू करने का प्रयास किया गया। इस पद्धति के पहले समर्थक थे चार्ल्स ग्रांट, विल्बरफोर्स और लार्ड मकाले के पिता जकारी मकाले किंतु प्रयास पूर्णतया सफल नहीं हो पाया, राज के प्रति खतरे की आशंका से विफल रहा।

1813 में स्थिति कुछ-कुछ स्पष्ट होने लगी थी। मिशनरीज को खुलेआम भारत आने की छूट मिल गई और उन्होंने बहुत सारी अंग्रेजी शिक्षा संस्थाओं की स्थापना कर दी। अंग्रेजी की हवा चली तो ऐसी चली कि जो भी उसकी लपेट में आया वही उखड़ने लगा। अंग्रेजी शिक्षा, अंग्रेजी सरकार, पाश्चात्य सभ्यता और ईसाइयत—इनमें एक नवीन संबंध बनता दीखने लगा। अंग्रेजी की मांग बढ़ती गई और सरकार ने इस नए जोड़-तोड़ के कारण मिशनरी शिक्षा को अपना ही प्रयोग मानना प्रारंभ कर दिया। उन्हें लगा कि मिशनरी तो वास्तव में हमारा ही काम कर रहे हैं। कंपनी स्वयं भारत में ईसाई मत फैलाने के यत्न में लगी तो थी पर बिना राज के प्रति खतरा बनाए।[1]

कंपनी और कंपनी सरकार मिशनरीज को गुप्त रूप से उकसाती थीं कि वे अपना धर्म-परिवर्तन संबंधी काम करते रहें। वे मिशन के माध्यम से राज की जड़ों को ही तो पक्का कर रहे थे। फ्रांसिस वार्डन जो मुंबई गवर्नर की कौंसिल के सदस्य थे उन्होंने 'स्पेशल कमिटी आफ नेटिव स्कूल बुक एंड स्कूल सोसाइटी' के संबंध में लिखा था कि हमें स्वयं धार्मिक काम करने से दूर रहना चाहिए किंतु परोक्ष रूप से मिशनरीज की सहायता अवश्य करनी चाहिए। जब तक भारतीय स्वयं उनके काम के विरुद्ध शिकायत न करें हम क्यों चिंता करें ? उन्हें अपना काम करने दें। हमें तो उनके काम से लाभ ही होगा। चाहे वे छोटी श्रेणी के लोगों में ही काम करें उनकी शिक्षा से भारतीयों के मन पर अपने धर्म के खोखलेपन के विरुद्ध प्रभाव पड़ेगा और कम

1. फिलिप्स, 'ईस्ट इंडिया कंपनी', पृ० 164

से कम ईमानदार और परिश्रमी प्रजा के रूप में तो हमारे सहायक बनेंगे ही।[2] फ्रांसिस वार्डन ने यही बात 30 अप्रैल, 1832 को हाउस आफ कामंज की सिलेक्ट कमिटी के सामने भी कही और साथ में यह कहा कि शिक्षा से भारतीयों के मन में अपने धर्म के प्रति जैसे-जैसे अश्रद्धा पैदा होगी वे ईसाइयत की ओर खिंचे चले आएंगे।[3] 5 अगस्त, 1832 को एल्फिंस्टन ने यही बात कही। उन्होंने कहा कि शिक्षा ही एक ऐसा माध्यम है जिससे भारत में ईसाइयत का प्रचार हो सकता है।[4]

1793 से 1813 तक तो प्रश्न यही था कि शिक्षा की ओर वैधानिक रूप से कदम बढ़ाया जाए या नहीं। 1813 के शिक्षा-मिशन प्रस्ताव के बाद समस्या का हल यह निकला था कि शिक्षा को हाथ में लिया जाए अवश्य, किंतु उसके परिणामों को सोचकर। परिणाम के बारे में ऐसा सोचा गया कि शिक्षा से हिंदुओं में हिंदू धर्म के प्रति श्रद्धा घटेगी और ईसाइयत का प्रचार बढ़ेगा। इसका प्रमाण भी मिलने लगा था। ईसाइयत के माध्यम से सरकार की जड़ें पक्की होंगी। यह भी निर्णय ले लिया गया था कि सरकारी काम अंग्रेजी भाषा में होगा और अंग्रेजीविद् भारतीयों को नौकरियां मिलेंगी। इसके दो लाभ होंगे—नौकर सस्ते मिलेंगे और वे सरकार के कृतज्ञ होंगे। नौकरों के कृतज्ञता भाव के आधार पर राज की जड़ें और पक्की होंगी। राजा राममोहन राय और दूसरे भारतीयों की ओर से जो समर्थन प्राप्त हुआ था, उससे यह बात भी स्पष्ट और निश्चित हो गई थी कि राज की सेवा में ही शिक्षा को जोड़ा जाएगा और राजसेवार्थ ही उसे अपनाया जाएगा। यह भी करीब-करीब निश्चित ही हो रहा था कि शिक्षा पाश्चात्य ढंग की होगी और अंग्रेजी भाषा के माध्यम से दी जाएगी। पाठ्य विषयों की ओर संकेत तो किया गया किंतु बड़ी ही चतुराई के साथ। विषय होंगे उपयोगी, किंतु उपयोगी किस लिए ? विषय सरकार और शिक्षार्थी दोनों के लिए उपयोगी होने चाहिए। संभावना पक्की यह थी कि नौकरी के रूप में शिक्षा शिक्षार्थी के लिए उपयोगी रहेगी और स्वामिभक्त नौकर के रूप में राज के लिए उपयोगी सिद्ध होगी। इस प्रकार दोनों पक्ष उससे लाभ उठाएंगे।

एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न और रह गया : क्या अंग्रेजी के माध्यम से इतने बड़े देश में शिक्षा दी जा सकेगी ? यदि दी जा सकेगी और दी जाएगी तो किस स्तर तक और किन लोगों को ? और उससे सरकार और जनता के परस्पर संबंधों पर क्या प्रभाव पड़ेगा ? यह शिक्षा राज के लिए लाभदायी होगी या नहीं ? इन प्रश्नों पर 1833 से पूर्व दो-तीन वर्ष तक विशेष ध्यान दिया गया।

1833 के चार्टर ऐक्ट से पूर्व जो विचार इस विषय पर किया गया वह जनता की शिक्षा के दृष्टिकोण से नहीं किया गया। आजकल तो सरकार प्राथमिक, उच्च और उच्चतर स्तरों पर शिक्षा की व्यापक योजनाएं बनाती है। उस समय न ऐसी योजना बनानी थी और न संभव थी। इंग्लैंड में भी कोई ऐसी योजना काम नहीं कर रही थी। सिलेक्ट कमिटी ने जब सम्मतियां एवं परामर्श मांगा तो जेम्स मिल ने कहा था कि अंग्रेजी शिक्षा जनसाधारण में फैल सके मुझे

2. फिशर्ज़ मेम्वार्ज़। देखिए : बसु, 'इंडियन एज्यूकेशन इन पार्लमेंटरी पेपर्ज़', पृ० 47
3, 4. वसु, पृ० 297, 299

इसकी कोई आशा दिखाई नहीं दे रही और ऐसी आशा करनी भी नहीं चाहिए । इस देश की जनसंख्या इतनी अधिक है, इतनी दूर-दूर तक फैली हुई है कि बहुत ही कम अंग्रेज लोग उनसे मिलते हैं, न ही वे उनसे मिल सकते हैं और वे स्वयं अंग्रेजी भाषा की बहुत कम आवश्यकता समझते हैं । ऐसी परिस्थितियों में अंग्रेजी भाषा और शिक्षा नहीं फैल पाएगी । जेम्स मिल इस विषय, में बिल्कुल निराश थे ।[5] फ्रांसिस वार्डन ने भी यही कहा । उन्होंने कहा कि आठ करोड़ जनता की शिक्षा अंग्रेजी के माध्यम से हो सकेगी, मैं इसकी कल्पना भी नहीं कर सकता ।[6] एल्फिंस्टन का विचार था कि अंग्रेजी कभी भी भारत की भाषा नहीं बन पाएगी । उन्होंने कहा कि दुनिया में कोई मिसाल ऐसी नहीं मिलती कि किसी देश की अपनी भाषा को उखाड़कर कोई दूसरी भाषा उसके स्थान पर जड़ें पकड़ सकी हो । हां, यदि वहां के लोगों की सभ्यता का स्तर बहुत ही नीचा हो और उनको दासता की बेड़ियों में बांध दिया गया हो तो बात दूसरी है ।[7] इन शब्दों से अर्थ क्या निकल रहा है : संकेत या चेतावनी या चुनौती ? या सीधा-सच्चा परामर्श ?

यदि अंग्रेजी के माध्यम से भारत की जनता को शिक्षा देना संभव नहीं था तो ऐसा प्रयास क्यों किया गया ? इसका उत्तर यह था कि कुछ सीमित सामाजिक स्तर तक अंग्रेजी के माध्यम से शिक्षा अवश्य दी जा सकेगी किंतु सार्वजनिक स्तर पर नहीं । स्वयं एल्फिंस्टन का मत यह था कि अंग्रेजी के अध्ययन को हर संभव तरीके से प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए किंतु इसे थोड़े ही लोग पढ़ेंगे और वे भी एक क्लासिकल भाषा की तरह से पढ़ेंगे । हां, शायद ही कोई और भाषा हो जिसके माध्यम से उनको इतना ज्ञान मिल सकेगा ।[8] फ्रांसिस वार्डन जो अंग्रेजी माध्यम से भारत की जनता की शिक्षा की कल्पना भी नहीं कर सकते थे उन्होंने भी कहा कि हमारे प्रशासन के सभी विभागों में कुछ ही दिनों में अंग्रेजी का प्रयोग होने लगेगा और इस सरकारी रूप में अंग्रेजी भारत के शिक्षित समाज की भाषा बन जाएगी ।[9]

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि शिक्षा की आवश्यकता जनता के लिए नहीं सरकार के लिए थी । और जब सरकार के लिए ही उसकी आवश्यकता थी तो सरकार ही यह निर्णय करेगी कि कितने लोगों को शिक्षा दी जाएगी । स्वयं चार्ल्स ग्रांट ने कहा था कि शिक्षा और भाषा का निर्णय विजेता शासक करेगा, शासित नहीं । वही बात अब लगभग चालीस वर्ष के बाद घूम-फिरकर सामने आ गई, केवल शब्दों का अंतर था । साथ में एल्फिंस्टन ने एक विशेष विचार और दिया । उन्होंने कहा कि जिन लोगों के पास समय है और जो विचारशील हैं यदि वे अंग्रेजी पढ़ेंगे तो भारत में शिक्षा और पाश्चात्य ज्ञान का प्रसार दस गुणा अधिक हो सकेगा । जो भी अंग्रेजी के माध्यम से विज्ञान पढ़ लेगा वह उसको अपनी भाषा के माध्यम से बहुत लोगों तक पहुंचा सकेगी ।[10] इस प्रकार अंग्रेजी भाषा सरकार और भारतीय समृद्ध वर्ग के बीच संपर्क का माध्यम बनेगी और इसी वर्ग और जनसाधारण के बीच संपर्क भाषा होगी जनता की अपनी

5. फिशर्ज़ मेम्वार्ज़ । देखिए : बसु, 'इंडियन एज्यूकेशन इन पार्लमेंटरी पेपर्ज़', पृ० 269
6, 7, 8, 9. वही, पृ० 297, 290, 290, 297.
10. शार्प, 'सलेक्शंज फ्रॉम एज्यूकेशनल रिकार्ड्स', पार्ट I, पृ० 117

भाषा । इसका अर्थ यह हुआ कि अंग्रेजी जानने वालों से यह आशा की जाती थी कि वे दो भाषाओं में प्रवीण होंगे । इस प्रकार शिक्षा की फिल्ट्रेशन थियोरी भी सामने आ गई । एल्फिंस्टन अंग्रेजी को विचारों की स्रोत भाषा मानते थे और भारतीय भाषाओं को जनसंचार-माध्यम ।

1827 के नौकर सेवा संबंधी पत्र के बाद 1830 में डायरेक्टर्ज़ की ओर से एक पत्र मद्रास सरकार को लिखा गया था जिसमें मद्रास सरकार को यह सुझाव दिया गया था कि भारतीय भाषा में साधारण जनता को प्रारंभिक शिक्षा देने की बजाय ऊंचे वर्ग की शिक्षा की व्यवस्था की जाए । पत्र में यह भी कहा गया था कि प्रारंभिक शिक्षा की व्यवस्था तो पहले से ही चली आ रही थी । सरकार ने उसी का विस्तार करने के लिए पुस्तकें छापीं और उनका वितरण किया, किंतु उच्च शिक्षा का कोई प्रबंध नहीं किया । यह मद्रास सरकार की गलती मानी गई क्योंकि डायरेक्टर्ज़ के विचार में जनसाधारण की शिक्षा से उनके विचारों और भावनाओं में कोई विशेष परिवर्तन होने वाला नहीं था । कंपनी की मान्यता यह थी कि विशेष और उच्च शिक्षा उस वर्ग के लोगों को दी जानी चाहिए जिनके पास समय है और जो जनसाधारण पर अपना प्रभाव रखते हैं । अतः वर्ग विशेष को उच्च शिक्षा देकर उनके माध्यम से जनता के मन में नए विचार और सरकार के प्रति सद्भावना उत्पन्न करने में अधिक सफलता मिलेगी । डायरेक्टर्ज़ के मत में सरकार के हित में यही था कि उच्च वर्ग को ही उच्च शिक्षा दी जाए । जनसाधारण को शिक्षा देकर उन पर सीधा प्रभाव डालने की कोशिश करना कोई बुद्धिमत्ता का काम नहीं था । इस पत्र के माध्यम से मद्रास सरकार पर डांट-सी ही पड़ी थी । पत्र से यह साफ दीख रहा है कि कंपनी सरकार को उच्च वर्ग की चिंता थी, उसकी सद्भावना प्राप्त करने की प्रबल इच्छा थी और सद्भावना प्राप्त करने के लिए उनकी शिक्षा की चिंता थी । प्रबल आशा यह की गई थी कि उच्च वर्ग अपनी परंपरागत प्रतिष्ठा के कारण साधारण वर्ग पर कंपनी सरकार के हित में प्रभाव डाल सकेगा और इस प्रकार राज की सेवा करेगा ।[11]

अंग्रेजी शिक्षा से राज की जड़ें पक्की होंगी अथवा शिक्षा-प्राप्त वर्ग सरकार के लिए खतरा बनेगा ? अब यह प्रश्न भी खुले तौर पर सामने आ गया । ग्रांट के समय से अभी तक यह आपत्ति खड़ी ही थी कि यदि भारतीय लोग अंग्रेजी पढ़ जाएंगे तो अवश्यमेव स्वतंत्रता की मांग करेंगे और वे इसे संभवतः प्राप्त भी कर लेंगे । इस आशंका के प्रत्युत्तर में विश्वास के साथ यह कहा गया था कि अंग्रेजी के माध्यम से भारतीय लोग सरकार के इतना निकट आ जाएंगे कि ऐसा खतरा कभी सामने आएगा ही नहीं ।[12] बार-बार यह बात दुहराई गई थी कि सरकार का कर्तव्य होने के नाते शिक्षा देना आवश्यक थ और यह भी विश्वास नहीं तो कम से कम आशा अवश्य थी कि शिक्षा प्राप्ति के कारण भारतीय लोग इंग्लैंड के साथ कृतज्ञता और सद्भावना के सूत्र में बंध जाएंगे ।[13] होल्ट मैकिंजी ने लगभग वही बात कही जो चार्ल्स ग्रांट कह चुके थे । उन्होंने यह

11. शार्प, 'सलेक्शंज फ्रॉम एज्यूकेशनल रिकार्ड्स', पार्ट I, पृ० 179-80
12. वसु, 'इंडियन एज्यूकेशन इन पार्लमेंटरी पेपर्ज़', पृ० 290
13. 'एडम्स रिपोर्ट्स' (कलकत्ता, 1838), पृ० 406

तो माना कि शिक्षा के उपरांत भारतीय जनता स्वतंत्रता की केवल मांग ही नहीं करेगी, प्राप्त भी कर सकती है किंतु उन्होंने यह भी कहा कि ऐसा होने का समय आने तक भारत में ज्ञान के साथ-साथ पक्के तौर पर ईसाइयत की प्रतिष्ठा भी हो चुकेगी और फिर यदि हमें भारत छोड़ना पड़ा तो छोड़ते समय दुःख नहीं होगा क्योंकि हमारी स्मृति और नाम के साथ घृणा और जुगुप्सा के स्थान पर कृतज्ञता और परोपकार की सद्भावनाएं जुड़ी होंगी ।[14] फ्रांसिस वार्डन ने कहा था कि अंग्रेजी भाषा भारत में इंग्लैंड के कीर्तिस्तंभ के रूप में सदा बनी रहेगी ।[15]

राज की प्रतिष्ठा, प्रशासन की आवश्यकता, अंग्रेजी भाषा के माध्यम से वर्ग विशेष से संबंध और सान्निध्य, भाषा, शिक्षा, सभ्यता और ईसाइयत का प्रचार, इस अंग्रेजीकरण के सूत्र में भारत को सदा कृतज्ञता और विदेशी विचारधारा के बंधन में बांध लेना—1793 से 1833 तक चालीस वर्ष में शिक्षा की यह रूपरेखा बनी । इस रेखाचित्र के अंदर रंग भरने वाले थे चार्ल्स ग्रांट के मानसपुत्र टामस बबिंग्टन मकाले और उनके मित्र विलियम बैंटिंक और चार्ल्स ग्रांट के सुपुत्र चार्ल्स ग्रांट जूनियर ।

14. वसु, 'इंडियन एज्यूकेशन इन पार्लमेंटरी पेपर्ज़', पृ० 283
15. वही, पृ० 297

9
ग्रांट के मानस-पुत्र—लार्ड मकाले

टामस बबिंग्टन मकाले (1800—1859) जकारी मकाले के पुत्र और चार्ल्स ग्रांट के मानस-पुत्र (गॉड-सन) थे । जकारी मकाले उदार विचारों के मिशन-सेवी थे । वे ईसाई मत के इवांजलिस्ट संप्रदाय के अनुयायी थे और राजनीतिक गतिविधियों में क्लेपहम सेक्ट के सदस्य के रूप में गहरी रुचि लेते थे । भारत के प्रति उनका दृष्टिकोण सीधा साम्राज्यवादी दृष्टिकोण था । पिता की इन गतिविधियों का टामस पर बड़ा प्रभाव पड़ा ।

टामस अत्यंत प्रतिभाशाली युवक थे । दस वर्ष की आयु से पूर्व ही उन्होंने कविता लिखना प्रारंभ कर दिया था और आश्चर्य की बात यह है कि उसी समय उन्होंने विश्व-इतिहास पर एक ग्रंथ लिखना भी प्रारंभ कर दिया था । वे कैंब्रिज विश्वविद्यालय के स्नातक थे और इतिहास, विधिशास्त्र एवं रोमन और ग्रीक साहित्य के विद्वान थे । उन्होंने कविता, निबंध (तीन जिल्द), और ब्रिटेन का इतिहास (पांच जिल्द) लिखे हैं । प्रख्यात इतिहासकार के नाते महारानी विक्टोरिया ने उनको बैरन आफ राथली की उपाधि से 1857 में विभूषित किया था । मकाले 1830 में पार्लमेंट के सदस्य बने और जीवन पर्यंत राजनीतिक एवं प्रशासन संबंधी कार्य करते रहे । उन्होंने इंडिया ऐक्ट (1834) के संबंध में भी बहुत काम किया । इंडियन पीनल कोड उन्हीं की देन है । कैंब्रिज में वे ऊंची श्रेणी के वक्ता और तार्किक माने जाते थे । लेखनी के धनी तो वे थे ही । लेखनी के साथ-साथ संवाद-शक्ति का परिचय भी उन्होंने अपने जीवन के हर क्षेत्र में दिया था । भारतीय शिक्षा पर उनका प्रस्ताव और पार्लमेंट में दिए गए वक्तव्य उनकी प्रतिभा के स्मरणीय कीर्तिमान हैं । शिक्षा के क्षेत्र में उन्होंने जो रिकार्ड यहां पर स्थापित किया है उसे तो सारा भारत आज तक नहीं तोड़ पाया है और संभवतः भविष्य में भी नहीं तोड़ पाएगा ।

मकाले चार्ल्स ग्रांट के सच्चे धर्मपुत्र और पक्के शिष्य थे । उन्होंने भारत संबंधी जो भी काम किया है या जो विचार व्यक्त किए हैं उसने इस दृष्टिकोण का समर्थन होता है । चार्ल्स ग्रांट के 'आब्जर्वेशंज़' 1797 में छपे थे और 1813 के चार्टर ऐक्ट के पास होने से पहले उसकी बहुत सारी प्रतियां वितरित की गई थीं । यह मानना असंभव है कि वे अपने धर्मगुरु के इन विचारों से अनभिज्ञ रहे होंगे । वे 1832 में कंपनी के बोर्ड आफ कंट्रोल के सेक्रेटरी नियुक्त हुए थे और उस समय चार्ल्स ग्रांट जूनियर, जो चार्ल्स ग्रांट सीनियर के ज्येष्ठ पुत्र थे, बोर्ड आफ कंट्रोल के चेयरमैन थे । उनके साथ कई वर्ष काम करने के पश्चात् वे भारत आए थे । मकाले छोटे चार्ल्स ग्रांट को अपना परम मित्र और धर्मभाई मानते थे । 1833 में पार्लमेंट में जब ब्रिटिश सरकार और

कंपनी के बीच भारत प्रशासन संबंधी व्यवस्था विशेष पर बहस चल रही थी तो प्रस्तावित व्यवस्था के पक्ष में सदन का ध्यान आकृष्ट करते समय मकाले ने अत्यंत आदरपूर्वक चार्ल्स ग्रांट की चर्चा की थी और कृतज्ञतापूर्वक उनके वैचारिक योगदान की प्रशंसा की थी। उन्होंने कहा था कि जब यह बिल तैयार किया जा रहा था तो मुझे मेरे परम मित्र (छोटे चार्ल्स ग्रांट) का पूर्ण सहयोग और सौहार्दमय विश्वास प्राप्त हुआ था। उन्होंने कहा कि ग्रांट महोदय ने पहले भी एक अवसर पर पूरी शक्ति और सूझ-बूझ से अपने विचार व्यक्त किए थे और मैं उनकी सारी चिंताओं, भावनाओं और जिम्मेदारियों में पूर्णतया उनके साथ हूं। इसी परस्पर सद्भावना के आधार पर मकाले ने उक्त व्यवस्था का समर्थन किया।[1] इन शब्दों से पता चलता है कि मकाले सच्चे अर्थ में चार्ल्स ग्रांट जूनियर के धर्मभाई थे और उनके पिता चार्ल्स ग्रांट सीनियर के मानस-पुत्र।

लार्ड मकाले के मन में भारत और भारतीयों के लिए किसी आदर विशेष की भावना नहीं थी। उनके मन में शक्ति और सेवा का एक विचित्र-सा मिश्रण था। वे जब शासक की शक्ति का अनुभव करते तो चाहते कि हुक्म की तलवार से सब कुछ एक ही वार में बदल दें। जब सेवा-भावना से प्रेरित होते तो समझते कि भारतीय लोग बड़ी दयनीय दशा में हैं और उनको शिक्षा और सच्चे धर्म का वरदान मिलना ही चाहिए। वे कह उठते कि भारतीय कोरे जंगली हैं, उनकी भाषा जंगलियों की भाषा है, हम उन पर राज कर रहे हैं, वे हमारे अधिकार में हैं, उनकी भाषा क्या हो, शिक्षा कैसी हो और कैसे हो इसका निर्णय हम करेंगे, केवल हम। दूसरी ओर वे कहते कि वे दीन हैं, दुखी हैं और अज्ञान के अंधेरे में पड़े हैं। साथ में कह डालते कि वे डरपोक, कायर और दब्बू हैं, और शिक्षा पाकर भी स्वतंत्रता की ओर कभी कोई कदम नहीं उठा सकेंगे, वे केवल ठोकर की भाषा समझते हैं, समादर और शिष्टाचार की नहीं। मकाले के चरित्र में मीठा-कड़वा, ऊंचा-नीचा, आदर-अनादर, प्रेम-घृणा, सभी कुछ तो मिला था।

भारत के धर्म के विषय में ग्रांट के जो विचार थे वे ही मकाले के भी थे। ग्रांट का विचार था कि हिंदू धर्म केवल धोखाधड़ी है और जहां-जहां अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार होगा वहां-वहां लकड़ी-पत्थर के देव-दानव कच्ची मिट्टी के खिलौनों की तरह लुढ़क जाएंगे। मकाले का विचार भी यही था। उन्होंने अपने शिक्षा-प्रस्ताव में लिखा है कि हिंदुओं का इतिहास, मेटाफिजिक्स, फिजिक्स, थियोलोजी सब वाहियात है।[2] वे भारत की प्राचीन विद्या के बारे में ऐसा मानते थे कि यह केवल अंधविश्वास को जन्म देती है। भारत का इतिहास झूठा, ज्योतिष झूठा, आयुर्वेद झूठा, परंतु ये सब पढ़े इसलिए जाते हैं कि सारे एक झूठे धर्म के साथ जुड़े हैं।[3] जैसे ग्रांट मानते थे कि शिक्षा के पश्चात् हिंदू अपने धर्म को छोड़कर ईसाई बन जाएंगे, वैसे ही मकाले भी यही आशा करते थे। अंग्रेजी शिक्षा और भाषा के सरकारी तौर पर लागू किए जाने के एक वर्ष पश्चात् 1836 में उन्होंने अपने पिता के एक पत्र में लिखा था कि कोई भी हिंदू जिसे अंग्रेजी

1. देखिए : मकाले, वर्क्स, XI, पृ० 543
2, 3. देखिए : 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', VI, पृ० 15

शिक्षा मिल जाती है अपने धर्म के प्रति हार्दिक रूप से निष्ठावान नहीं रहता। उनका विश्वास था कि यदि उनकी शिक्षा-योजना पर सतत रूप से काम किया गया तो अब से तीस वर्ष के बाद बंगाल के भद्र समाज में एक भी मूर्तिपूजक नहीं बचेगा। और यह सब कुछ ईसाइयत के प्रचार और हिंदुओं के धर्म-परिवर्तन के बिना ही हो जाएगा; उनकी धार्मिक स्वतंत्रता में भी कोई हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। यह सब केवल अंग्रेजी शिक्षा के पश्चात् विचार-शक्ति और चिंतन-प्रक्रिया के परिवर्तन से हो जाएगा।[4]

जिनका विश्वास झूठा उनका चरित्र घटिया ! मकाले भारत के समाज को एक सड़ियल समाज मानते थे, यूरोप के घटिया वर्ग से भी गिरा हुआ। वे कहते थे कि यूरोप के बुरे से बुरे प्रदेशों में भी सीधे-सच्चे और ईमानदार आदमी मिल जाएंगे, किंतु बंगाल में वास्तविक सच्चाई और हार्दिक ईमानदारी का धनी एक व्यक्ति भी नहीं मिलेगा। भारत में अपने चरित्र और आचार-व्यवहार में पूर्णतया ईमानदार आदमी तो नहीं के बराबर हैं।[5] वे भारतीय लोगों को अत्यंत कायर और जनानिया समझते थे। उन्होंने लिखा है कि भारतीय लोगों को सशक्त लोगों से कुचले जाने की ऐसी आदत-सी पड़ गई है कि यदि कोई उनसे सद्भावनापूर्वक मानवीय व्यवहार करे तो वे इसे दूसरे की कमजोरी समझने लगते हैं।[6] चार्ल्स ग्रांट भी जब भारतीयों की शांतिप्रियता और शाकाहार की चर्चा करते थे तो इसी आशय से करते थे। वास्तव में कंपनी के सभी अफसरों और सत्ताधीशों का उस समय करीब-करीब ऐसा ही दृष्टिकोण था।

मकाले का प्रस्ताव 1835 में लिखा गया था। उसी वर्ष उन्होंने कलकत्ता में चर्च जनरल असेंबली को संबोधित करते हुए कहा था कि पाश्चात्य ज्ञान की प्रत्येक शाखा हिंदू सिस्टम के तद्विषयक किसी न किसी भाग को नष्ट कर देगी और इस प्रकार हिंदू धर्म के विशाल किंतु भयंकर भवन का एक-एक पत्थर नीचे गिर जाएगा, जब शिक्षा का विस्तृत कार्यक्रम पूरा होगा तब तो सारा भवन ढहकर टुकड़े-टुकड़े हो जाएगा, एक कण भी नहीं बचेगा। ऐसे शब्दों से पता चलता है कि मकाले एक प्रकार से अपने गुरु के समर्थक थे और दूसरे प्रकार से उनके प्रतिपक्षी—ग्रांट आधारभूत रूप से ईसाई मिशनरी थे और उसके साथ राजसेवी और शिक्षा-सेवी। मकाले यह सब कुछ होते हुए भी आधारभूत रूप से शिक्षा-सेवी ही रहे। ग्रांट चाहते थे धर्म-परिवर्तन, मकाले चाहते थे शिक्षा-सभ्यता-परिवर्तन। लक्ष्य दोनों का एक था : राजसेवा। ग्रांट की पद्धति में भय और आशंका निहित होने के कारण उसे मान्यता-प्राप्ति में बीस और चालीस वर्ष लगे। मकाले की पद्धति में निहित थे आत्मविश्वास और कूटनीति। ग्रांट ने अपनी चोट को आजमाया, मकाले ने अपनी चोट को नरमाया। ग्रांट की चोट नरम होते-होते मकाले की नीति के माध्यम से अपना काम कर गई। ग्रांट चले थे, मकाले पहुंच गए।

मकाले के विचार में पंद्रहवीं शती का यूरोप और सत्रहवीं-अठारहवीं शती का भारत एक

4. उद्धृत : आर्थर मेह्यू, 'द एज्यूकेशन आफ इंडिया', पृ० 15-16
5. नूरुल्ला और नायक, 'ए हिस्ट्री आफ एज्यूकेशन इन इंडिया', पृ० 141
6. उद्धृत : आर्थर ब्रायंट, 'मकाले' (लंदन, 1932), पृ० 60